

द्वैमासिक जनवरी-फरवरी 2012
20 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

- विकल्प की राह खोजते लोग और नये विकल्प की समस्याएँ
- इतने शर्मिदा क्यों हैं
प्रो. एजाज़ अहमद?
- स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव” की असलियत
- संस्कृति-रक्षकों और धर्म ध्वजाधारियों का असली चेहरा
- एक “ईमानदार” प्रधानमंत्री के घड़ियाली आँसू
- दवा कम्पनियों के मुनाफे के लिए इंसानी ज़िन्दगी से धिनौने खिलवाड़ का मसौदा



आओ शुभ सुन्दर
पुभात लेकर स्वर्गीय दत्त,
पर्वत की ऊँचाइयों को छूकर
नीचे मैदानों में प्रवाहित हो
स्निग्ध आलोकधारा,
कर्मव्यस्त लोगों के घर आँगन में
वह असुगोत्सव
कान्तिमय सुदर्शन नर्तक की तरह
प्रतिदिन आनन्दनृत्य करे।

-ऋग्वेद, प्रथम मण्डल,
सूक्त - 49

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

► 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमन्त्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

► 'आह्वान' जिन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम जिन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के खिलाफ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिए नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

पाठक मंच	2
अपनी ओर से	
विकल्प की राह खोजते लोग और नये विकल्प की समस्याएँ	3
विश्व पटल पर	
पूँजीवादी स्वर्ग के तलघर की सच्चाई	15
समाज	
संस्कृति रक्षकों और धर्म ध्वजाधारियों का असली चेहरा	12
एक साज़िश जिससे जनता की चेतना पथरा जाय	14
सम्मान के साथ हत्या या सम्मान के साथ न जीने देने का जुनून	22
सामयिकी	
चुनावी घमासान और विकल्पहीनता का चुनाव	9
“स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव” की असलियत	11
एक ईमानदार प्रधानमन्त्री के घड़ियाली आँसू	17
एक शर्मनाक फैसले की हकीकत	19
श्रीराम सेने की राष्ट्रभक्ति का एक और नमूना	20
दवा कम्पनियों के मुनाफ़े के लिए इंसानी जिन्दगी के साथ खिलवाड़	24
विकास करता भारत! मगर किसका??	26
विश्व पटल पर	
इतने शर्मिदा क्यों हैं प्रो. एजाज़ अहमद?	28
शिक्षा जगत	
एक और छात्र चढ़ा अमानवीय शिक्षा व्यवस्था की बलि	13
साहित्य	
य' शाम है... - शमशेर बहादुर सिंह	16
समझदारों का गीत - गोरख पाण्डेय	37
कौयनर महाशय की कहानियाँ - बर्टोल्ट ब्रेष्ट	47
गतिविधि बुलेटिन	38

मुक्तिकामी छात्रों- युवाओं का आह्वान

वर्ष 5 अंक 1
जनवरी-फरवरी 2012

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य दस रुपये

वार्षिक सदस्यता : 80 रुपये
द्विवार्षिक सदस्यता : 160 रुपये
पंचवर्षीय सदस्यता : 400 रुपये
आजीवन सदस्यता : 2000 रुपये

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फोन : 011-64623928, 9211662298

ईमेल : ahwan.editor@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक अभिनव सिन्हा द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

अधिकारों का गणित

सम्पादक जी,

गत दिनों हरियाणा के मुख्यमन्त्री भूपेन्द्र सिंह हुड्डा ने एक नये अधिकार की माँग उठायी है। दिल्ली में एक कार्यक्रम के दौरान उन्होंने सुझाव दिया कि शिक्षा का अधिकार अधिनियम की तर्ज पर खेल का अधिकार भी बनाया जाना चाहिए। यूँ तो हर बच्चा अपने बचपन में कोई न कोई खेल खेलता ही है। पुराने ज़माने के खेल अलग किस्म के हुआ करते थे लेकिन आजकल के खेल अलग हैं। वैसे आजकल के खेलों को 'खेल' की बजाय 'गेम' कहना ज्यादा उचित होगा। 'गेम' - जो नई पीढ़ी कम्प्यूटर पर खेल रही है। कम्प्यूटर से चिपकी इस पीढ़ी को पता नहीं ही चलेगा कि 'गेम' खेलते-खेलते वह खुद भी कैसे 'कम्प्यूटर' में तब्दील हो जायेगी। इस तरह से कम्प्यूटर के इस युग में 'कम्प्यूटरों' की एक नई पौध भी तैयार हो रही है जो भावी समाज का निर्माण करेगी, जिसमें केवल 'कम्प्यूटर' ही 'कम्प्यूटर' होंगे, मानव नहीं। विषयांतर हो रहा है। बात तो खेल के अधिकार की चल रही थी। तो जी, आजकल के ज्यादातर युवा तो 'खेल' से मतलब शायद 'क्रिकेट' को ही समझते हैं। समझें भी क्यों न? क्रिकेट में ही तो कैरियर है।

खैर, यहां सिर्फ खेल की बात नहीं है, बात है खेल के अधिकार की। तो जी, अधिकारों का भी अपना इतिहास है। आजादी के बाद से ही सभी सरकारें जनता को अधिकार-पे-अधिकार देती आयी हैं। लेकिन पता नहीं क्यों, जनता की हालत फिर भी पतली से पतली ही होती गयी? सरकार ने जनता को वोट का अधिकार दिया। सरकार कहती रही कि जनता के पास वोट नाम का यह अधिकार केवल अधिकार ही नहीं वरन हथियार है और जनता इस अधिकार द्वारा तख्तों-ताज भी बदल सकती है। जनता ने अपने इस अधिकार का प्रयोग किया और तख्तों-ताज बदले। बल्कि कई-कई बार बदलकर देखे लेकिन जनता की हालत नहीं बदली। फिर धीरे-धीरे जनता का इस अधिकार से मोहभंग होने लगा और वोट की कतार में लगने की बजाय अपने काम पर जाना ज्यादा पसन्द करने लगी। इस तरह से मतदान का प्रतिशत लगातार घटने लगा तो सरकार के एक हिस्से ने आवाज़ लगायी कि मतदान के अधिकार को अनिवार्य होना चाहिये। जनता हैरान! अरे, जो अनिवार्य और बाह्य ही हो गया तो फिर वह 'अधिकार' कहाँ रहेगा? यह तो वही बात हो जायेगी कि देश के नागरिकों को अपने देश में कहीं भी घूमने-फिरने की आजादी है, यह उसका अधिकार है। अब सरकार कहने लगे कि आपको देश-भर में कहीं भी घूमना-फिरना पड़ेगा! नागरिक कहेगा कि मुझे अधिकार तो है लेकिन मेरे घुटनों में दर्द है। मुझे चलने-फिरने में दिक्कत है, मैं घूम-फिर नहीं पाऊंगा। तो सरकार कहेगी कि नहीं, तुम्हें घूमने-फिरने का अधिकार दिया गया है। इस अधिकार का प्रयोग तो करना ही पड़ेगा! है न मजे

की बात? इधर जनता आवाज़ उठा रही है कि हमें 'राईट टू रिजेक्ट' चाहिए, उधर सरकार का दूसरा हिस्सा (सरकार के भी हिस्से होते हैं) कह रहा है कि मत के अधिकार को अनिवार्य करो।

खैर, अधिकारों की बात चल रही है तो याद आता है कि सरकार ने हमें कितने-कितने अधिकार दिये! उसने जनता को जीने का अधिकार दिया। लेकिन ये क्या? जनता में से कई तो राष्ट्रपति को पत्र लिखकर खुदकशी की अनुमति ही माँगने लगे। और कई तो इसके लिए अनुमति के चक्कर में भी नहीं पड़ना चाहते और सीधे ही भगवान को प्यारे हो जाते हैं! आजादी के बाद से लेकर आज तक देश-भर में आत्महत्याएँ करने वाले किसानों ने किससे अनुमति माँगी थी? ये तो शुरु है कि सरकार ने जनता को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं दिया, वरना तो पता नहीं कि देश में क्या होता? अजीब विडम्बना है कि उधर सरकार जनता को अधिकार पे अधिकार दिये जा रही है और इधर जनता की हालत बद से बदतर होती जा रही है। सरकार ने जनता को बोलने और भाषण देने का अधिकार दिया लेकिन जनता की बोलती ही बन्द है! सरकार द्वारा दिये गये अधिकारों में से यही अधिकार तो सबसे बढ़िया है लेकिन अन्य अधिकारों की तरह जनता इसे भी प्रयोग नहीं कर रही। मुझ जैसे को जो कम से कम इस अधिकार का तो प्रयोग करना ही चाहते हैं, जनता सिरफिरा ही समझने लगती है। माना कि सरकार ने इस अधिकार को जनता को सौंपते समय उतनी उदारता नहीं दिखाई जितनी कि अन्य अधिकारों में, और जनता को यह अधिकार सौंपते समय इसमें अनेक 'किन्तु-परन्तु' भी डाल दिये। फिर भी आपको जितना मिला है, उतना तो प्रयोग कर ही सकते हैं जी!

तो जी, यह मान लेना चाहिये कि जनता अपने किसी भी अधिकार का प्रयोग करना ही नहीं चाहती। सरकार ने तो जनता को चुनाव लड़ने का भी अधिकार दिया लेकिन जनता के मलाईदार तबके ने इस अधिकार पर भी कब्ज़ा कर लिया और इस अधिकार का प्रयोग करके मलाईदार स्वयं तो सरकार हो गये लेकिन जनता फिर छाछ की छाछ ही रह गयी। कभी-कभी जब छाछ किस्म की जनता भी अपने इस अधिकार का प्रयोग करने आगे आती है तो स्वयं जनता ही उसे 'रिजेक्ट' कर देती है। अब तो छाछ जनता ने भी मान लिया है कि चुनाव का अधिकार तो मलाईदार के पास ही रहना उचित है!

यूँ, ऐसा भी नहीं है कि अधिकार सिर्फ जनता के ही पास होते हैं। सरकार के पास भी अधिकार होते हैं। लेकिन जब भी सरकार अपने अधिकारों का प्रयोग करती है तो पता नहीं कैसे, जनता ही उसकी चपेट में आ जाती है। सरकार ने जब भी अपने किसी अधिकार का कोई तीर चलाया तो उसका निशाना किसी पशु-पक्षी को नहीं, जनता को ही लगा। उधर, सरकार ने एक निशाना तो लगाया तो इधर लाखों नौकरियाँ गायब हो गयीं! सरकार ने दूसरा निशाना लगाया तो किसानों से उनकी ज़मीनें छिनने लगीं। सरकार के निशाने भी अजीब होते

(पेज 46 पर जारी)

विकल्प की राह खोजते लोग और नये विकल्प की समस्याएँ

वर्ष 2011 बीत गया। एक और वर्ष पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद और पूँजीवाद ने मानवीय जीवन की कीमत पर मुनाफ़े का ताण्डव जारी रखा। और हमेशा से ज़्यादा नग्न रूप में। भूमण्डलीकरण के दौर में अन्तकारी रूप से संकटग्रस्त विश्व पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने बच्चे-खुचे “कल्याणकारी”, “जनवादी”, “न्यायशीलता” के मुखौटों को एक के बाद एक नोच-नोचकर फेंकना जारी रखा। इसके शीर्षस्थ चौधरियों ने पूँजीवादी व्यवस्था को सही और वैध ठहराने के प्रयास भी अब छोड़ दिये हैं। जब-तब इस बात को मानने में अब उनके मुँह और कान लाल नहीं होते कि पूँजीवादी व्यवस्था अपनी नैसर्गिक गति से बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी, बेघरी पैदा करती है; लेकिन साथ में वे विकल्पहीनता की बात करते हैं। उनका कहना है कि भले ही पूँजीवाद बहुसंख्यक आम मेहनतकश जनता को बेहतर जीवन नहीं दे सकता, मगर आप कर भी क्या सकते हैं! 20वीं सदी के समाजवादी प्रयोगों का अन्त संशोधनवादी, सामाजिक फासीवादी तानाशाहियों में होने और तमाम जनविद्रोहों के असफल होने, और बची-खुची समाजवादी सत्ताओं के धीरे-धीरे पतित होने को वे पूँजीवाद की अन्तिम विजय के तौर पर दर्शाते हैं। उनका कहना है कि भले पूँजीवादी जनवाद एक न्यायशील व्यवस्था न हो, मगर इसका विकल्प पेश करने का दावा करने वाली समाजवादी सत्ताएँ सर्वसत्तावादी और गैर-जनवादी सिद्ध हुई हैं। इसलिए, उनके अनुसार, आज मानवता के पास पूँजीवादी व्यवस्था के नरभक्षीपन, मानवद्रोही चरित्र और मुनाफ़ाखोरी के बावजूद एक ही विकल्प है—पूँजीवादी जनवाद! वे समाजवाद और धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद और आतंकवाद को एक ही तराजू से तौलते हुए कहते हैं कि ‘देखो! तुम्हारे पास चुनने के लिए पूँजीवादी जनवाद और विभिन्न प्रकार के (कम्युनिस्ट या धार्मिक फासीवादी) सर्वसत्तावाद के अलावा कुछ भी नहीं है!’

यही बात साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलने वाले तमाम एन.जी.ओ. भी करते हैं। तमाम स्वयंसेवी संगठन और गैर-सरकारी संगठन ‘तीसरी दुनिया’ के देशों में इसी प्रचार के लिए तैनात किये गये हैं कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है; कि पूँजीवादी संसदीय लोकतन्त्र सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था है, हालाँकि यह बहुसंख्यक जनता को अभी सिर्फ़ बदहाली और तबाही ही दे पा रही है; आप अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि मौजूदा पूँजीवादी लोकतन्त्र के दायरे के भीतर रहते हुए सुधार, पैबन्दसाज़ी, न्यायिक सक्रियता, नागरिक एडवोकेसी, और जनता की “अपनी पहलकदमी” (यानी, सरकार को उसकी ज़िम्मेदारियों से मुक्त करना!) जगाकर कुछ बेहतर हासिल कर लें। आप यदि पूरी व्यवस्था के विरुद्ध किसी क्रान्तिकारी, रैडिकल आन्दोलन की बात करते हैं, जिसका रास्ता एक इंकलाब के जरिये सत्ता शासक वर्गों के हाथ से छीनकर मेहनतकश जनता के हाथ में सौंपना हो, तो वे त्योंरियाँ चढ़ा लेते हैं! वे कहते हैं कि ऐसे प्रयास विफल हो चुके हैं और अगर सफल हुए भी तो उनका अन्त पूँजीवादी जनवाद से भी बुरी व्यवस्था में हुआ है—यानी, सर्वसत्तावाद!

‘सर्वसत्तावाद’ (टोटैलिटैरियनिज़्म) इस समय तमाम बौद्धिक हलकों में एक ‘कैचवर्ड’ बना हुआ है। न सिर्फ़ सत्ता के टुकड़ों पर प्रत्यक्ष रूप

से पलने वाले एन.जी.ओ. इस सर्वसत्तावाद के भय से ओत-प्रोत हैं, बल्कि अपने आपको मार्क्सवाद, समाजवाद, कम्युनिज़्म से भी रैडिकल विचारों वाला मानने वाले और एक “नये किस्म के कम्युनिज़्म” की बात करने वाले तमाम फैशनेबुल चिन्तक भी इस सर्वसत्तावाद के डर में दुबले हुए जा रहे हैं! इनमें से कुछ शायद वाकई डरे हुए हैं, काफ़ी कुछ फेदिन के उपन्यास ‘आग्नेय वर्ष’ के चरित्र पास्तुखोव की तरह जो अन्त तक तय नहीं कर पाता है कि बोल्शेविक क्रान्तिकारियों का पक्ष ले या नहीं (क्योंकि वह क्रान्ति को एक सुन्दर वस्तु समझता था और गृहयुद्ध की भयंकरता से घबराया हुआ था), और कुछ वास्तव में तो नहीं डरे हुए हैं लेकिन व्यावहारिकता के तकाज़े से पक्ष चुन रहे हैं और आवश्यकतानुसार पक्ष बदल भी रहे हैं, जैसा कि ‘आग्नेय वर्ष’ उपन्यास का ही एक दूसरा चरित्र त्वेत्खिन कर रहा था (पता नहीं क्यों स्लावोज़ जिज़ेक की पिछले डेढ़ दशकों के दौरान लिखी गयी रचनाओं को पढ़कर बरबस ही त्वेत्खिन की याद आती है!)। लेकिन (पूँजीवादी) जनवाद और सर्वसत्तावाद का छद्म विकल्प पेश करने की तरकीब पूँजीवाद के लिए अब कारगर नहीं दिख रही है।

बीता वर्ष पूँजीवाद के लिए उथल-पुथल भरा रहा है।

आर्थिक संकट के भँवर में भयंकर रूप से फँसा पूँजीवाद अधिक से अधिक गैर-जनवादी, दमनकारी और तानाशाहाना होता जा रहा है। मौजूदा संकट ने, जो कि 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे भयंकर संकट है, पूँजीवाद को अपने बचे-खुचे कल्याणकारी मुखौटों को भी फेंकने पर मजबूर कर दिया है। सबप्राइम संकट से लेकर मौजूदा सार्वभौम ऋण संकट तक जिस तरह से दुनिया के तमाम देशों की पूँजीवादी सत्ताओं ने खुले तौर पर वित्तीय इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग को बचाने के लिए प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया है, और जनता पर होने वाले सामाजिक सार्वजनिक खर्चों में कटौती करके लालच, लोभ और मुनाफ़े की हवस के चलते तबाह होने वाले बैंकों और वित्तीय संस्थानों को बचाया है, उससे उनकी पक्षधरता एकदम साफ़ हो गयी है। यूनान, पुर्तगाल, स्पेन से लेकर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस तक में सरकार की पूँजी-परस्त नीतियों के खिलाफ़ छात्र-युवा और मजदूर सड़कों पर उतर रहे हैं। चिली में सार्वजनिक खर्चों में कटौती के खिलाफ़ छात्रों का जुझारू आन्दोलन जारी है। मध्य-पूर्व में मौजूदा उथल-पुथल के लिए ऐतिहासिक सन्दर्भ तैयार करने का काम पूँजीवाद के असाध्य

संकट ने ही किया है, क्योंकि उसने साम्राज्यवाद पर अरब देशों के तेल व प्राकृतिक गैस संसाधनों पर वर्चस्व स्थापित करने का दबाव बढ़ा दिया है। साम्राज्यवाद का बढ़ता दबाव देशी पतित बुर्जुआ सत्ताओं, नग्न दमन और ग़रीबी, बेरोज़गारी और महँगाई के खिलाफ़ जनता के असन्तोष के साथ मिलकर अरब देशों में एक विस्फोटक स्थिति पैदा कर रहा है। भारत और चीन जैसे देशों में कोई देशव्यापी उभार जैसी स्थिति तो नहीं है लेकिन मजदूरों के आन्दोलनों की बारम्बारता बढ़ रही है। स्पष्ट है कि 20वीं सदी की क्रान्तिकारी समाजवादी सत्ताओं के पतन के बाद शुरू हुए हताशा, निराशा, अन्धकार और मिथ्या विकल्पहीनता के लम्बे दौर के बाद हम एक बेहद जटिल, दुरूह और दीर्घकालिक

“स्पष्ट है कि 20वीं सदी की क्रान्तिकारी समाजवादी सत्ताओं के पतन के बाद शुरू हुए हताशा, निराशा, अन्धकार और मिथ्या विकल्पहीनता के लम्बे दौर के बाद हम एक बेहद जटिल, दुरूह और दीर्घकालिक संक्रमणकाल की शुरुआत में प्रवेश कर रहे हैं। ऐसे में, बहुत से गहन-गम्भीर सवालों का जवाब देना आज देश की क्रान्तिकारी ताकतों और परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं और मजदूरों का कार्यभार बन जाता है। उसके बिना हम सिर्फ़ स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी जनउभारों का जश्न मनाकर आगे नहीं बढ़ सकते।”

संक्रमणकाल की शुरुआत में प्रवेश कर रहे हैं। ऐसे में, बहुत से गहन-गम्भीर सवालों का जवाब देना आज देश की क्रान्तिकारी ताकतों और परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं और मजदूरों का कार्यभार बन जाता है। उसके बिना हम सिर्फ़ स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी जनउभारों का जश्न मनाकर आगे नहीं बढ़ सकते। आज जो सबसे बड़ा सवाल हमारे सामने खड़ा है वह है बीसवीं सदी के समाजवाद के प्रयोगों की सफलताओं-असफलताओं के एक सुसंगत विवेचन का सवाल।

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग और पूँजीवादी पुनर्स्थापना

1917 से लेकर 1976 तक का दौर विश्व सर्वहारा के महान प्रयोगों का दौर था। 1917 में दुनिया विश्व की पहली मजदूर क्रान्ति की साक्षी बनी। यह पहला मौका था जब मार्क्सवादी विज्ञान, जो सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के निचोड़ और वैज्ञानिक समीक्षा-समाहार के तौर पर अस्तित्व में आया था, व्यवहार में उतारा जा रहा था। 1917 से लेकर 1953 में स्तालिन की मृत्यु तक रूस में सर्वहारा सत्ता कायम रही और इसने रूस को मध्ययुगीन अन्धकार से निकालकर दुनिया के उन्नततम और सर्वशक्तिशाली देशों की कतार में लाकर खड़ा कर दिया। इस पूरे दौर में रूस ने न केवल आर्थिक प्रगति की बल्कि मानव विकास और जीवन स्तर के मानकों के अनुसार भी रूस दुनिया के किसी भी देश से आगे था। बेरोज़गारी, ग़रीबी, वेश्यावृत्ति, अशिक्षा और बेघरी का उन्मूलन हो गया; और यह सब फासीवाद पर

विजय पाने के दौरान भारी कुर्बानी और तबाही झेलकर समाजवादी रूस ने हासिल किया। स्तालिन के नेतृत्व में समाजवादी रूस ने जो उपलब्धियाँ अर्जित कीं, उसे शीत युद्ध की शुरुआत से पहले तक पश्चिम के प्रेक्षक, पत्रकार, बुद्धिजीवी और अनुसन्धानकर्ता भी मानते थे। स्तालिन को एक शैतान के रूप में चित्रित करने, स्तालिनकालीन सोवियत संघ को एक गैर-जनवादी, दमनकारी देश के रूप में चित्रित करने की साम्राज्यवादी साजिश की शुरुआत शीत युद्ध के दौरान हुई, जो आज तक जारी है। लेकिन इस ऐतिहासिक सच्चाई को पलटा नहीं जा सकता है कि समाजवादी क्रान्ति ने 'यूरोप का आलसी भालू' कहे जाने वाले रूस को हर मायने में दुनिया के अग्रणी देशों की कतारों में लाकर खड़ा कर दिया। बीसवीं सदी रूस की अद्वितीय और द्रुत गति से हुई तरक्की का गवाह बनी, और यह समाजवाद के ही कारण सम्भव हुआ था। समाजवाद के तहत रूस में निजी सम्पत्ति के खात्मे, कृषि में सामूहिकीकरण, औद्योगिकीकरण, योजनाबद्ध विकास, सामाजिक समानता, शिक्षा और संस्कृति में हुए प्रयोगों के बारे में एक आलेख में हम विस्तृत विश्लेषण नहीं दे सकते हैं। लेकिन कुछ बुनियादी बातों की ओर हम ध्यान खींचना चाहेंगे।

समाजवाद के बेजोड़ और अचम्भित कर देने वाले प्रयोगों और प्रगति के बावजूद रूस के समाजवादी प्रयोग और रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की समाजवाद के निर्माण की समझदारी में अर्थवाद के भटकाव के चलते पार्टी के भीतर मौजूद बुर्जुआ विकृतियाँ और नौकरशाहाना प्रवृत्तियों पर काबू नहीं पाया जा सका। स्तालिन के जीवन काल में रूस एक समाजवादी देश बना रहा क्योंकि राजसत्ता का चरित्र स्तालिन के नेतृत्व में सर्वहारा बना रहा और स्तालिन सर्वहारा स्वभाव और दृष्टि से तमाम बुर्जुआ और नौकरशाहाना प्रवृत्तियों का खात्मा करने का प्रयास करते रहे। स्तालिन की ठीक उन्हीं कारणों से आलोचना नहीं की जा सकती, जिन "कारणों" से रॉय मेदवेदेव, इसाक डॉइशर, लियॉन त्रात्स्की जैसे लोगों ने, और साम्राज्यवादी देशों के टट्टू बुद्धिजीवियों और मीडिया ने पिछले छह दशकों के दौरान की है। मज़दूर राज्य के विरुद्ध बुर्जुआ षड्यन्त्रों और दुरभिसन्धियों को कुचलने का जो काम स्तालिन ने किया, वह अगर बुर्जुआ वर्ग के टुकड़खोरों के मन में भय की सिहरन और घबराहट पैदा करता है तो इसमें आश्चर्य भी क्या है? निश्चित तौर पर, इस पूरे काम में कई

बार ज्यादातियाँ भी हो गयीं। लेकिन देश के बाहर साम्राज्यवाद और देश के भीतर, यहाँ तक कि पार्टी के भीतर समाजवादी प्रयोग के विरोधियों और षड्यन्त्रकारियों से घिरे होने के चलते स्तालिन को कभी ठहरकर सोचने का वक्त नहीं मिला। लेकिन यह भी सच है कि समाजवाद के निर्माण के बारे में स्तालिन की समझदारी में एक अर्थवाद मौजूद था। यह कमजोरी पूरे यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में मार्क्स के काल से ही मौजूद रही थी। इस रुझान के खिलाफ मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने संघर्ष जारी रखा था। लेकिन इसके बावजूद इसका शक्तिशाली प्रभाव बोल्शेविक क्रान्ति के बाद भी बना हुआ था।

“स्तालिन की ठीक उन्हीं कारणों से आलोचना नहीं की जा सकती, जिन “कारणों” से रॉय मेदवेदेव, इसाक डॉइशर, लियॉन त्रात्स्की जैसे लोगों ने, और साम्राज्यवादी देशों के टट्टू बुद्धिजीवियों और मीडिया ने पिछले छह दशकों के दौरान की है। मज़दूर राज्य के विरुद्ध बुर्जुआ षड्यन्त्रों और दुरभिसन्धियों को कुचलने का जो काम स्तालिन ने किया, वह अगर बुर्जुआ वर्ग के टुकड़खोरों के मन में भय की सिहरन और घबराहट पैदा करता है तो इसमें आश्चर्य भी क्या है?”

इस रुझान का मानना था कि सर्वहारा सत्ता स्थापित होने, सुदृढीकृत होने और खेती और उद्योग दोनों क्षेत्रों में निजी सम्पत्ति का कानूनी तौर पर उन्मूलन होने के बाद समाजवादी निर्माण का अर्थ महज उत्पादक शक्तियों का तीव्र विकास करते जाना होता है। उत्पादक शक्तियों पर विकास के इस गैर-द्वन्द्वात्मक जोर के ही कारण सोवियत संघ के आर्थिक नियोजन में हमेशा उद्योग पर अधिक जोर रहा। जब फासीवाद का खतरा मण्डरा रहा था तब तो कृषि से अधिशेष को निचोड़कर उद्योग में डालना सोवियत संघ की बाध्यता थी,

क्योंकि रासायनिक और बड़े यान्त्रिक उद्योगों, धातुओं के उत्पादन और परिशोधन के बिना सोवियत संघ जर्मनी से टकराने योग्य युद्ध मशीनरी नहीं बना सकता था। लेकिन उत्पादक शक्तियों के विकास पर अधिक जोर के कारण सामान्य स्थितियों में भी कृषि पर कम और उद्योग पर ज्यादा जोर की ही नीति लागू होती, क्योंकि कृषि में उत्पादक शक्तियों के विकास की एक भौतिक-प्राकृतिक सीमा होती है, और उत्पादक शक्तियों के विकास की गति भी कम होती है, जबकि उद्योग में कहीं तेज़ गति से उत्पादक शक्तियों का विकास हो सकता है और सैद्धान्तिक तौर पर इसकी कोई भौतिक-प्राकृतिक सीमा नहीं है। इसीलिए उद्योग पर जोर हमेशा ज्यादा रहा और कृषि पर कम, जो कि युद्ध की अपवादस्वरूप परिस्थितियों में और बढ़ गया। इस प्रकार स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत पार्टी की समझदारी यह थी कि उत्पादक शक्तियों के तेज़ और असीमित विकास के जरिये ही कम्युनिज़्म की मंज़िल में प्रवेश किया जा सकता है क्योंकि जब प्रचुरता की अवस्था आयेगी, केवल तभी 'सभी से उनकी क्षमता के अनुसार, और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार' के कम्युनिस्ट सिद्धान्त को अमल में लाया जा सकता है।

इसलिए 1936 में ही, जब कृषि क्षेत्र में सामूहिकीकरण समाप्त हुआ और निजी सम्पत्ति का खात्मा हुआ तो स्तालिन ने घोषणा की कि समाजवादी सोवियत संघ में अब शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं हैं; मजदूर, बुद्धिजीवी और छात्रों को मिलकर अब कम्युनिज्म की ओर बढ़ना है। **लेकिन स्पष्टतः महज निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे से पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का काम पूरा नहीं होता।** निश्चित रूप से यह रूपान्तरण करने की पूर्वशर्त है और इसके बगैर उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण की बात करना भी बेमानी होगा। लेकिन मालिकाने के सामूहिक होने के बाद भी वितरण के सम्बन्धों का पूर्ण रूपान्तरण नहीं हुआ था, सामूहिक फार्मों और उद्योगों के अस्तित्व में आने के बाद भी वस्तुओं का माल के रूप में उत्पादन और इसलिए विनिमय सम्बन्धों की मौजूदगी थी, जनता द्वारा खुद राजनीतिक निर्णय लेने की प्रक्रिया के विकास का स्तर निम्न था, पार्टी की राजनीतिक नेतृत्व की भूमिका और विशेषकर संस्थाबद्ध नेतृत्व देने की स्थिति का क्रमिक उन्मूलन होने का काम अभी शुरुआती मंजिलों में भी नहीं था, मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के अन्तर का समाप्त होना, शहर

और गाँव के बीच के अन्तर का समाप्त होना, उद्योग और कृषि के बीच के अन्तर का समाप्त होना अभी बाकी था। इसके अतिरिक्त, संस्कृति से लेकर शिक्षा और मनोविज्ञान तक में बुर्जुआ विचारों का प्रभाव अभी मजबूती से मौजूद था। बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी बनी हुई थी। उद्योग से लेकर कृषि तक में विशेषज्ञों को विशेषाधिकार हासिल थे। प्रबन्धक, तकनोशाह, और पर्यवेक्षकों को कल-कारखानों, खानों-खदानों और सामूहिक फार्मों तक में विशेषाधिकार और सुविधाएँ और साथ ही अधिक वेतन हासिल था। आम तौर पर, मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच, उद्योग और कृषि के बीच, और गाँव और शहर के बीच विभेद के आधार पर पूँजीवादी विशेषाधिकार प्राप्त ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी के संगठनकर्ता, कमिसार आदि थे। यह वर्ग सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के दौरान लगातार अपनी स्थिति मजबूत करता रहा। एक तरफ़ रूस उत्पादक शक्तियों के विकास, जीवन स्तर के विकास, और सामूहिकीकरण में आगे बढ़ रहा था, वहीं दूसरी ओर पार्टी के भीतर ही यह विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग अपनी जड़ें गहरी कर रहा था। स्तालिन इस बात को धीरे-धीरे समझ रहे थे। लेकिन इसके कारणों की कोई स्पष्ट समझदारी स्तालिन विकसित नहीं कर सके। और विशेषकर जब उनका विश्लेषण यह था कि 1936 में सोवियत

“हालिया वर्षों में ग्रोवर फर, मारियो सूसा, आदि जैसे लोगों के शोध ने दिखलाया है कि स्तालिन जीवनपर्यन्त पार्टी के भीतर नौकरशाही और बुर्जुआ तत्वों के खिलाफ़ लड़ते रहे जो स्तालिन के नाम का प्राधिकार इस्तेमाल करते हुए समाजवाद और स्तालिन दोनों को ही कलंकित करने का काम कर रहे थे। लेकिन चूँकि स्तालिन समाजवादी संक्रमण के दौरान वर्ग संघर्ष की प्रकृति को नहीं समझ पाए, इसलिए वे ऐसे तत्वों के पैदा होने की ज़मीन को नहीं देख पाए।”

संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं हैं, तो वे समस्या की कुंजीभूत कड़ी तक पहुँच भी नहीं सकते थे। जब तक वे इस सच्चाई को पहचान सके कि समाजवादी संक्रमण एक सुदीर्घ अवधि होगा और इस पूरी अवधि के दौरान समाज में वर्गों की मौजूदगी रहेगी, और समाज के विकास को समझने की कुंजी वर्ग संघर्ष ही होगी, तब तक पार्टी के भीतर नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग ने अपने पाँव जमा लिये थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में स्तालिन ने इस नौकरशाह वर्ग की जकड़ को तोड़ने के लिए तमाम प्रयास किये, लेकिन इससे पहले कि वे इन प्रयासों को व्यवस्थित रूप से आगे बढ़ा पाते, 1953 में उनकी मृत्यु हो गयी और

खुश्चेव के सत्ता में आने के साथ ही सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना की शुरुआत हो गयी और 1956 में बोल्शेविक पार्टी की बीसवीं कांग्रेस का समय आते-आते खुश्चेव का संशोधनवाद पार्टी में अपनी स्थिति को निर्णायक रूप से मजबूत कर चुका था। हालिया वर्षों में **ग्रोवर फर, मारियो सूसा**, आदि जैसे लोगों के शोध ने दिखलाया है कि स्तालिन जीवनपर्यन्त पार्टी के भीतर नौकरशाही और बुर्जुआ तत्वों के खिलाफ़ लड़ते रहे जो स्तालिन के नाम का प्राधिकार इस्तेमाल करते हुए

समाजवाद और स्तालिन दोनों को ही कलंकित करने का काम कर रहे थे। लेकिन चूँकि स्तालिन समाजवादी संक्रमण के दौरान वर्ग संघर्ष की प्रकृति को नहीं समझ पाए, इसलिए वे ऐसे तत्वों के पैदा होने की ज़मीन को नहीं देख पाए।

बीसवीं कांग्रेस में खुश्चेव ने स्तालिन पर जमकर कीचड़ उछाला और उनके महान नेतृत्व को बदनाम करने की हर सम्भव कोशिश की। इसके बाद, खुश्चेव ने समाजवाद की महान संस्थाओं, मूल्यों और ढाँचे को व्यवस्थित तरीके से नष्ट करने और तोड़ने की शुरुआत की। इस काम को ब्रेज़नेव और कोसिगीन के काल में आगे बढ़ाया गया। जैसे ही रूस समाजवाद के पथ से विपथगमन कर पूँजीवाद के पथ पर आया वह एक समाजवादी देश से एक सामाजिक साम्राज्यवादी देश में तब्दील हो गया और दुनिया की दूसरी बड़ी महाशक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ प्रतिस्पर्द्धा में उतर गया। पूर्वी यूरोप और अफगानिस्तान और साथ ही अफ्रीका के कई देशों में सोवियत साम्राज्यवाद ने अपने कारनामे दिखलाये। **और इन सभी कारनामों का दाग़ समाजवाद के नाम पर लगा, क्योंकि सोवियत संघ नाम के लिए अभी भी समाजवादी ही था।** देश के भीतर पूँजीवाद की ओर विपथगमन को समझने में जनता को समय लगा। लोगों के लिए यह विश्वास से परे

था कि महान लेनिन और महान स्तालिन की पार्टी एक-एक करके समाजवाद की सभी उपलब्धियों को नष्ट करने का काम कर रही है। जैसे-जैसे, सोवियत समाजवाद एक राजकीय इजारेदार पूँजीवाद में तब्दील हुआ, वैसे-वैसे देश में बेरोज़गारी, गरीबी, बेघरी जैसी समस्याएँ फिर से सिर उठाने लगी। मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता पर एक सामाजिक फासीवादी किस्म के नियन्त्रण के द्वारा सोवियत संघ की संशोधनवादी पार्टी ने उत्पादकता के स्तर को ऊँचा बनाये रखने का प्रयास किया। मज़दूरों और आम मेहनतकशों के हर प्रतिरोध को बेरहमी से कुचला गया। पार्टी और राज्य की आलोचना असम्भव थी, अपराध थी। कोई सत्ता के खिलाफ नहीं बोल सकता था। नागरिकों के व्यक्तिगत निजी जीवन तक पर राजसत्ता की निगाह होती थी। इसका कारण यह था कि सोवियत संशोधनवादियों को हमेशा यह डर सताता रहता था कि जैसे-जैसे जनता उनकी असलियत को समझती जाएगी, वैसे-वैसे उसे विरोध और प्रतिरोध का सामना करना पड़ सकता है। इसलिए संशोधनवादी सत्ता देश की जनता पर एक सामाजिक फासीवादी किस्म के नियन्त्रण का इस्तेमाल करती थी। इन गैर-जनवादी हरकतों का इल्ज़ाम भी नामधारी समाजवाद होने के नाते समाजवाद और मार्क्सवाद

पर आया। 1956 के बाद सोवियत संघ की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक साम्राज्यवादी भूमिका और देश के अन्दर जनता के खिलाफ एक सामाजिक फासीवादी भूमिका को ही बुरुआ मीडिया ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के रूप में चित्रित किया। और आज तक साम्राज्यवादी मीडिया और साम्राज्यवाद के भाड़े के बुद्धिजीवी 1956 के बाद के पूरे दौर को सर्वहारा अधिनायकत्व का उदाहरण बताते हुए उसे पूँजीवादी जनवाद के बरक्स खड़ा करते हैं, और दावा करते हैं कि कम-से-कम पूँजीवादी जनवाद एक सापेक्षिक नागरिक स्वतन्त्रता तो देता है!

समाजवाद की समस्याएँ और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग के ढहने और संशोधनवाद के पार्टी में काबिज़ होने के पीछे के कारणों का माओ ने विस्तृत विश्लेषण किया। स्तालिन के जीवन काल में ही माओ

ने सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोग की कुछ आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। समाजवाद की समस्याओं पर माओ की चिन्तन की शुरुआत सोवियत समाजवाद की आलोचना के साथ ही हुई। माओ ने अपने इस चिन्तन को विकसित करने में लेनिन के चिन्तन के छूटे हुए सिरे को पकड़ा। लेनिन ने 1924 में मृत्यु से पहले सोवियत संघ में और आम तौर पर समाजवाद की समस्याओं पर चिन्तन की शुरुआत कर दी थी। **कम ही लोग इस बात से वाकिफ़ हैं कि सांस्कृतिक क्रान्ति शब्द का इस्तेमाल भी पहली बार लेनिन ने किया था।** लेकिन लेनिन सांस्कृतिक क्रान्ति की पूरी अवधारणा को अभी विकसित नहीं कर सके थे। उन्होंने इस बात की ओर ज़रूर इशारा किया था

“साथ ही, उन्होंने इस बात की ओर भी आगाह किया था कि पूँजीवाद और समाजवाद के बीच का संघर्ष लम्बा खिंचने वाला है और पहले चक्र में इनमें से कौन विजयी होगा इसका फैसला एक लम्बी ऐतिहासिक अवधि के बाद ही हो सकेगा; लेनिन का मानना था कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ ही समाजवादी शिक्षा और नये समाजवादी मनुष्य के निर्माण के पहलू पर भी लगातार ज़ोर होना चाहिए। इसके बग़ैर, समाजवाद के निर्माण के कार्य को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता और न ही कम्युनिज़्म की ओर आगे बढ़ा जा सकता है।”

कि सोवियत समाजवादी राजसत्ता में बुरुआ विकृतियाँ और नौकरशाहाना विरूपताएँ मौजूद हैं; उन्होंने यह भी बताया था कि खेती के क्षेत्र में और साथ ही निजी व्यापार के क्षेत्र में निजी मालिकाने और टटपुँजिया उत्पादन की मौजूदगी बुरुआ तत्वों के पुनरुत्पादन का एक सतत् स्रोत है; साथ ही, उन्होंने इस बात की ओर भी आगाह किया था कि पूँजीवाद और समाजवाद के बीच का संघर्ष लम्बा खिंचने वाला है और पहले चक्र में इनमें से कौन विजयी होगा इसका फैसला एक लम्बी ऐतिहासिक अवधि के बाद ही हो सकेगा; लेनिन का मानना

था कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ ही समाजवादी शिक्षा और नये समाजवादी मनुष्य के निर्माण के पहलू पर भी लगातार ज़ोर होना चाहिए। इसके बग़ैर, समाजवाद के निर्माण के कार्य को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता और न ही कम्युनिज़्म की ओर आगे बढ़ा जा सकता है। लेकिन स्तालिन लेनिन के चिन्तन के इस छूटे सिरे को नहीं पकड़ पाये। इसके बजाय वे यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में मौजूद अर्थवादी भटकाव, यानी समाजवादी निर्माण में महज़ उत्पादक शक्तियों के विकास पर ही बल देने की भूल, के शिकार बन गये। नतीजतन, वे समाजवादी समाज के पूरे चरित्र और प्रकृति को सही ढंग से नहीं समझ पाए। माओ ने लेनिन के छूटे हुए विश्लेषण को आगे बढ़ाया और गुणात्मक रूप से विकसित करते हुए समाजवादी संक्रमण की एक सुसंगत समझदारी विकसित की, और साथ ही महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का युगान्तरकारी सिद्धान्त प्रतिपादित किया। समाजवादी संक्रमण के दौरान पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने और कम्युनिज़्म की ओर बढ़ने के सिद्धान्त को विकसित करने के काम में महान

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त ही आज सर्वहारा क्रान्तिकारियों के लिए एक उपयुक्त प्रवेश द्वार हो सकता है। माओ ने बताया कि समाजवादी संक्रमण एक सुदीर्घ ऐतिहासिक अवधि है जिस दौरान वर्ग संघर्ष ही सर्वहारा क्रान्तिकारियों के लिए कुंजीभूत कड़ी है। समाजवादी समाज में सर्वहारा वर्ग सत्ता में आ चुका होगा, लेकिन बुर्जुआ वर्ग समाज में मौजूद रहेगा और अपने खोए हुए स्वर्ग को प्राप्त करने की कोशिश जारी रखेगा। माओ ने बताया कि उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काम निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे के साथ शुरू होता है, खत्म नहीं, क्योंकि निजी सम्पत्ति का कानूनी खात्मा महज मालिकाने के सवाल को हल करता है। यह न तो वितरण के सवाल को पूरी तरह से हल करता है और न ही उत्पादन और वितरण की पूरी प्रक्रिया में मौजूद तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं को, यानी कि, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच का अन्तरविरोध; शहर और गाँव के बीच का अन्तरविरोध; और, उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध। जब तक ये असमानताएँ मौजूद रहती हैं तब तक पूँजीवादी विशेषाधिकार मौजूद रहते हैं; वस्तुओं का विनिमय मौजूद रहता है और इस प्रकार वस्तुओं का अस्तित्व महज उपयोग मूल्य के रूप में (यानी कि केवल उपयोग हेतु) नहीं बल्कि माल के रूप में होता है; पूँजीवादी विशेषाधिकार से सम्पन्न पार्टी कमिसारों और संगठनकर्ताओं का वर्ग पार्टी के भीतर एक नये किस्म के पूँजीपति वर्ग का सृजन करता है और पार्टी के भीतर बुर्जुआ हेडक्वार्टर स्थापित करता है; विशेषज्ञों, प्रबन्धकों, पर्यवेक्षकों का वर्ग समाज के भीतर एक विशेषाधिकार-सम्पन्न तबका बनता है और पार्टी के भीतर मौजूद बुर्जुआ वर्ग के साथ साँट-गाँठ कर एक ऐसी शक्ति का सृजन करता है जिसका समाजवाद और सर्वहारा वर्ग से अन्तरविरोध होता है। ये तत्व अपनी वर्ग प्रकृति और स्वभाव से हर समाजवादी प्रयोग के रास्ते में बाधा पैदा करते हैं, षड्यन्त्र करते हैं और सर्वहारा सत्ता का तख्ता-पलट करने की फिराक में रहते हैं। यदि इन वर्गों के खिलाफ सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व को नहीं लागू किया गया तो ये वर्ग अन्ततोगत्वा सर्वहारा सत्ता को पलटकर एक पूँजीवादी सत्ता में तब्दील कर देंगे। माओ ने बताया कि पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के लिए क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा। समाज में मानसिक श्रम

“माओ ने बताया कि हालाँकि उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के अन्तरविरोध में ऐतिहासिक तौर पर उत्पादक शक्तियाँ निर्णायक होती हैं, लेकिन क्रान्ति के बाद, सर्वहारा सत्ता स्थापित होने के बाद, उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू प्रधान हो जाता है। उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र से ही किसी सामाजिक संरचना के चरित्र की पहचान होती है। उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच की द्वन्द्वात्मकता को सही ढंग से समझे बिना समाजवादी निर्माण और संक्रमण की एक सुसंगत समझदारी नहीं हासिल की जा सकती।”

और शारीरिक श्रम के बीच, शहर और गाँव के बीच और उद्योग और कृषि के बीच के विभेद समाजवादी समाज में मौजूद रहते हैं; पूँजीवादी विशेषाधिकार मौजूद रहते हैं; इन सबके खिलाफ सर्वहारा वर्ग की लड़ाई महज पूँजीवाद के खिलाफ लड़ाई नहीं है। इनके खिलाफ सर्वहारा वर्ग की लड़ाई वर्ग समाज के चार हज़ार वर्षों के खिलाफ एक महान युगान्तरकारी संघर्ष है। इसके लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की ज़रूरत है। यानी कि अधिरचना के क्षेत्र में, यानी कि संस्कृति, शिक्षा, कला, मनोविज्ञान, राजनीति, आदतों, मूल्यों, मान्यताओं आदि सभी क्षेत्रों में सर्वहारा क्रान्ति को जारी रखना; यानी कि इन सभी क्षेत्रों में उपरोक्त तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताओं का सतत् प्रचार, संघर्ष और प्रचार के जरिये क्रमिक खात्मा; बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वहारा वर्ग का सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना; पार्टी के भीतर आलोचना-आत्मालोचना, शुद्धीकरण आदि के अभियानों के जरिये बुर्जुआ कचरे की समय-समय पर सफ़ाई करना; मार्क्सवाद-लेनिनवाद के उसूलों को जनता के बीच लगातार प्राधिकार बनाना; टटपुंजिया उत्पादन पद्धतियों का क्रमिक खात्मा करना; उत्पादन को बढ़ाने पर जोर देना, लेकिन इस तरह से नहीं कि मानसिक और शारीरिक श्रम, शहर और गाँव, उद्योग और कृषि के बीच का अन्तरविरोध और अधिक बढ़े। इसीलिए माओ ने नारा दिया था, ‘क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखो और उत्पादन को बढ़ाओ!’ माओ ने बताया कि हालाँकि उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच के अन्तरविरोध में ऐतिहासिक तौर पर उत्पादक शक्तियाँ निर्णायक होती हैं, लेकिन क्रान्ति के बाद, सर्वहारा सत्ता स्थापित होने के बाद, उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का पहलू प्रधान हो जाता है। उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र से ही किसी सामाजिक संरचना के चरित्र की पहचान होती है। उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच की द्वन्द्वात्मकता को सही ढंग से समझे बिना समाजवादी निर्माण और संक्रमण की एक सुसंगत समझदारी नहीं हासिल की जा सकती। माओ ने चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होने के बाद ही कहा था कि इसके बाद भी इस बात का फ़ैसला होने में अभी लम्बा समय लगेगा कि चीन में पहले चक्र में पूँजीवाद जीतेगा या समाजवाद। समाजवाद की अन्तिम विजय को सुनिश्चित करने के लिए कई सांस्कृतिक

(पेज 41 पर जारी)

चुनावी घमासान और विकल्पहीनता का चुनाव

● प्रसेन

सरकार और सारी पार्टियाँ
सुनते-सुनते तंग आ गई हैं
कि उन्होंने जनता का विश्वास खो दिया है
कि ऐसे में उनके लिए क्या यह ज्यादा आसान नहीं होगा
कि वे इस शक्की, उत्पाती और नामुराद जनता को ही
भंग कर दें
और अपने लिए एक दूसरी, सीधी-सादी, भली-सी जनता
चुन लें...

(बेटोल्ड ब्रेष्ट की कविता के आधार पर)

पाँच राज्यों में हो रहे विधानसभा चुनावों में जनता को पोलिंग बूथ तक लाने के लिए चुनाव आयोग की कसरत तथा तमाम “प्रबुद्धजनों” के प्रवचनों को देखें और सुनें तो ब्रेष्ट की यह कविता इनके परिप्रेक्ष्य में भी कितनी सटीक बैठती है। तमाम चुनावी पार्टियों के चोर-भ्रष्ट नेता जब अपने व अपनी पार्टी के लिए जाति, धर्म, नोट इत्यादि के जरिये जनता को रिझाने में लगे हैं तो चुनाव आयोग इन सबके लिए सामूहिक तौर पर जनता को “अमूल्य मतों” की याद दिला रहा है। सड़कों पर लगे होर्डिंग्स में लिखे गये नारों में इस बेचैनी को समझा जा सकता है। कुछ बानगी-

1. वोट न करने से लोकतन्त्र पर लगने वाले दाग से अच्छा है मतदान कर उंगली पर स्याही का दाग लगावा लिया जाय। (दाग अच्छे हैं!)

2. वोट फॉर पीपुल्स फ्यूचर (जनता के भविष्य के लिए मतदान करें)

3. हैप्पी वोटिंग डे 15 (इलाहाबाद)

4. वोट फॉर अग्रेस्ट करप्शन (भ्रष्टाचार-विरोध के पक्ष के मत डालें)

5. मैं मतदाता हूँ, भविष्य का निर्माता हूँ

6. आपका मत देश के भविष्य से भी अधिक मूल्यवान है

7. ‘प्रतिज्ञा’ (‘स्टार प्लस’ का एक धारावाहिक) की प्रतिज्ञा की प्रतिज्ञा- जो उंगली बिंदिया सजाती है वह एक वोट से प्रदेश सँवार सकती है।

चुनाव आयोग इसी तरह एक-एक गली में विभिन्न तरीकों से जनता को एक-एक वोट कीमत की बताते घूम रहा है। घूमें भी क्यों न! ले दे के एक जनता ही बची है नसीहत देने के लिए! नेताओं पर तो ज़ोर चलता नहीं (और चलाना भी नहीं चाहते) जो रोज़ ही चुनाव की आचार-संहिता की धज्जियाँ उड़ते घूम रहे हैं (वैसे आचार-संहिता बनी ही इसीलिए है!)। इलाहाबाद में तो चुनाव आयोग के जिला निर्वाचन अधिकारी और डी.एम आलोक कुमार ने तो एक गज़ब का बाज़ार-नुस्खा खोजा है नौजवानों को पोलिंग बूथ तक लाने के

लिए। कुछ “नये स्टेप्स” पर विचार हुआ। तय हुआ कि शहर के रेस्टोरेंट संचालकों और दुकानदारों को सहमत किया जाय कि जिन नौजवानों की उंगली में स्याही लगी हो उन्हें खुरीदारी में उस दिन 5 प्रतिशत से 10 प्रतिशत की छूट दी जाय! इस प्लान से नेता भी खुश! व्यापारी भी खुश (यह भी हो सकता है कि मन्दी में डम्प पड़े माल को इसी बहाने निकाल लेने के इस नायाब नुस्खे का आविष्कार व्यापारियों ने ही किया हो)। और नौजवानों को मिले-दाग! और दाग अच्छे जो हैं।

यह तो चुनाव आयोग का मसला था। अब आइए, उन “प्रबुद्धजनों” (जिसमें “सिविल सोसाइटी” के घनघोर चिन्तक, “सफल” कवि, साहित्यकार, फिल्म अभिनेता, खिलाड़ी, कम्पनियों के प्रबन्धक आदि-आदि शामिल हैं।) की अपीलों, शिकायतों और क्रोध पर भी थोड़ा गौर कर लिया जाये।

इनकी अपील है जनता के नाम! कि देश के संविधान में सबको कुछ अधिकार दिये गये हैं तो कुछ कर्तव्य भी दिये गये हैं! अधिकार में एक अधिकार मताधिकार भी है। हमें बाकी अधिकार मिले या न मिले (कोई पूछे क्यों?) लेकिन मताधिकार हमसे कोई नहीं छीन सकता। इसलिए उंगली पर लगा निशान, बन जायेगा आपकी शान! मत भूलिए कि वोट देना एक ज़िम्मेदारी है। जो इस ज़िम्मेदारी को पूरा नहीं करता वह एक अच्छा व ईमानदार इंसान नहीं है (यह है न्यायसंगत सोच कि वर्षों से चुनावों का परिणाम केवल अपनी तबाही-बर्बादी के रूप में पाने वाली जनता की स्वाभाविक बेरुखी भी इनको बेईमानी नज़र आती है)। एक महाशय तो जनता के इस गौर-ज़िम्मेदाराना रवैये पर इतना क्षुब्ध थे कि अखबार में फतवा ही दे डाला कि जो वोट न करे उसकी नागरिकता ही रद्द कर देनी चाहिए। हाँ! भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे नेताओं की नागरिकता के बारे में इनको कुछ नहीं कहना है। ऐसा करने से तो सारे “जनप्रतिनिधियों” की नागरिकता ही कठघरे में खड़ी हो जायेगी (यद्यपि इससे भी पूरी व्यवस्था पर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ेगा)। इधर अण्णा जी की आँधी की जब हवा भी नहीं रह गयी तो अण्णा जी विश्राम कर रहे हैं और “चिन्तनरत” हैं (जब से इनकी टीम के एक प्रमुख सिपहसालार शांतिभूषण पर हाईकोर्ट ने जमीन के मामले में घपले की वजह से 25 लाख का जुर्माना लगाया है तब से वो “बाहरी दुनिया के सम्पर्क में नहीं है”)। तो अण्णा टीम वोट दिलवाने के लिए जनता को जागरूक करने में मुस्तैदी से लगी है। पर किसको? वही पुराना राग-ईमानदार को! बाकी ईमानदार तलाशना जनता का काम है।

बड़ी शिकायत है “प्रबुद्धजनों” की कि लोग शराब, कम्बल, नोट इत्यादि के बदले अपना “अमूल्य वोट” बेच देते

हैं। इनका भी सवाल बहुत “मासूम” है—क्यों नहीं ईमानदारों को वोट देते? यद्यपि ऐसे पाँच ईमानदारों का नाम पूछते ही बगल झाँकने लगते हैं! पर अड़ जाते हैं—चलिए जहाँ सभी खराब हैं वहाँ उनमें कम खराब वाले को वोट दो! तभी मुल्क की तरक्की होगी, सोसाइटी आगे बढ़ेगी! पर बहस थोड़ा आगे बढ़ाइये तो भड़क उठते हैं, उल-जुलूल बकने लगते हैं—यही जनता ऐसे भ्रष्ट लोगों को चुनकर भेजती है और भ्रष्टाचार के लिए जनता ही जिम्मेदार है! इति सिद्धम्!

अब इन काठ के उल्लुओं को कौन समझाये कि ‘जहाँ कूपै में भाँग पड़ी है’ यानी कि जहाँ सारे चोर हैं और उनमें से ही किसी एक को चुनना है तो इससे क्या फर्क पड़ता है कि उन्हें एक वोट से चुना जाता है या फिर सौ वोट से! या साँपनाथ और नागनाथ के चुनाव में चाहे ‘कुछ’ ले के “अमूल्य वोट” दिया जाय या फिर बिना ‘कुछ’ लिए, डसी तो जनता ही जायेगी! जनता सब जानती है। वह जानती है कि चुनाव के समय तो इस “अमूल्य वोट” से कुछ पाया जा सकता है जबकि चुनाव के बाद तो “जनप्रतिनिधियों” के दर्शन निराकार ब्रह्म की तरह दुर्लभ हो जायेंगे। परन्तु ये काठ के उल्लू कितना ख्याल रखते हैं “जनप्रतिनिधियों” का, उनके टेंटे से ‘कुछ’ भी निकलने ही देना नहीं चाहते। इनका वह ईमानदार प्रत्याशी अमूर्त होता है। इनके ईमानदार नेता को चुनने की बात सुनकर जनता भी ‘कन्प्यूज’ हो जाती है कि वह कहाँ ठप्पा मारे कि सीधे “ईमानदार” को जा लगे और वह अपना अमूर्त रूप छोड़कर साकार हो उठे!

पर वास्तव में ये काठ के उल्लू नहीं है। ये इस पूँजीवादी व्यवस्था के सबसे बड़े समझदार हैं। ये जानते हैं कि चुनावों से किसी तरह के बदलाव का यकीन आम जनता में नहीं है। परन्तु उंगली पर दाग लगवाने वाले पर्व में ही जनता की भागीदारी घटती गई तो इस दुनिया के सबसे बड़े लूटतंत्र की वैधता ही कठघरे में खड़ी हो जायेगी। बस! डर जाते हैं। और येन-केन-प्रकारेण जनता को पोलिंग बूथ की तरफ टेलना चाहते हैं। परन्तु ये यह भी जानते हैं कि सारे वोट करेगे नहीं। तो बस! ये समझदार इस सच्चाई को भी पूँजीवादी लूटतंत्र के हित में इस्तेमाल करते हैं। (आखिर इसी का तो सुविधाफल पाते हैं) और सारा दोष वोट न करने पर मढ़ देते हैं ताकि लोग इस अपराधबोध में न बोलें क्योंकि उन्होंने वोट तो दिया नहीं है! या कम से कम उनमें यह भावना तो पैठ ही जाय कि उसने ही तो ‘कुछ’ के बदले अपना “अमूल्य वोट” दिया जिससे खराब प्रतिनिधि आ गये! तो अब खुद ही भुगतें! देने वालों में यह बात बैठे कि सब न देने वालों या ‘कुछ’ ले कर देने वालों का दोष है। ये कृत्सित समझदार जनता को यह कभी नहीं बतायेंगे कि 100 प्रतिशत वोट से चुनने या बिना ‘कुछ’ लिये चुनने से बेईमान व भ्रष्ट तंत्र ईमानदार व जनहितैषी नहीं हो जायेगा।

इन सबके बावजूद लुटेरों की एक पार्टी से ऊबी हुई जनता का एक हिस्सा चुनाव में लुटेरों की दूसरी पार्टी को वोट डालती है, जैसा कि उत्तर प्रदेश चुनावों में हुआ है। कारण यह

है कि जनता विकल्पहीनता की स्थिति में है। ऐसे में, जब तक कोई क्रान्तिकारी विकल्प नहीं खड़ा होता, जो क्रान्ति के जरिये देश की तकदीर को बदलने का माद्दा रखता हो, तब तक जनता का एक हिस्सा एक से ऊबकर दूसरे, और फिर दूसरे से ऊबकर पहले के पास आयेगा। अगर 60 प्रतिशत वोटों ने वोट डाला तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उन सभी का इस व्यवस्था में भरोसा पैदा हो गया है। इसका अर्थ सिर्फ इतना था कि मायावती के भ्रष्ट, गैर-जनवादी, अपराधी राज से तंग आकर जनता का एक हिस्सा एक कम भ्रष्ट, कम अपराधी और कम गैर-जनवादी राज को वोट दे रहा था। इस पूरी प्रक्रिया में मीडिया और पूँजीवादी प्रचार तंत्र की बहुत बड़ी भूमिका होती है, जो बदलाव का छद्म रचने के लिए बीच-बीच में ‘युवा नायकों’ को खड़ा करता है जो एक भ्रामक ‘परिवर्तन’ की नुमाइन्दगी करते दिखलाये जाते हैं, जैसे कि अखिलेश यादव या राहुल गाँधी! लेकिन ऐसा कोई भी भ्रम दीर्घजीवी नहीं होता। अब जबकि सपा की सरकार बन चुकी है और अखिलेश यादव मुख्यमन्त्री बन चुके हैं, तो शुरू में ही सपा के दबंगों और अपराधियों ने अपने कारनामे शुरू कर दिये हैं। समझा जा सकता है कि आने वाले समय में क्या होगा! आम मेहनतकश जनता और आम घरों से आने वाले छात्रों-नौजवानों को यह समझना होगा कि पूँजीवादी चुनावों के इस स्वाँग में जीते कोई भी हारेगी जनता ही!

“स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव” की असलियत

(पेज 11 से जारी)

के लिए आज़ाद हो; जहाँ विशालकाय निर्वाचक मण्डलों में होने वाले चुनाव अपने आपमें करोड़ों रुपये के निवेश वाला व्यवसाय बन जाते हों, जो कि सिर्फ पूँजी के दम पर लड़े जा सकते हों; जहाँ जनतन्त्र धनतन्त्र पर टिका हो; जहाँ समाज की अस्सी फीसदी आबादी भयंकर गरीबी में जीती हो; वहाँ चुनाव प्रणाली को स्वतंत्र और निष्पक्ष कहा ही नहीं जा सकता है।

दरअसल किसी भी चुनाव प्रणाली को सामाजिक-आर्थिक जीवन से अलग विश्लेषित ही नहीं किया जा सकता। एक ऐसे समाज में जिसमें आर्थिक असमानता, अवैज्ञानिकता और सच्चे जनतान्त्रिक मूल्यों की अनुपस्थिति हो; जहाँ व्यवस्था के केन्द्र में मनुष्य न होकर महज मुट्ठीभर लोगों का मुनाफा हो; वहाँ का जनतन्त्र जनता को छलने के उपकरण से अधिक कुछ भी नहीं हो सकता। ऐसा जनतन्त्र महज धनतन्त्र होगा और उसकी चुनावी प्रक्रिया एवं चुनाव जनता को भ्रम में रखने का उपकरण मात्र होगा। आज जब मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था से एक-एक करके लोगों का मोहभंग हो गया है तो ऐसे में चुनाव आयोग एवं अन्य संवैधानिक संस्थाओं की सारी ‘मेहनत एवं संकल्प’ इसी व्यवस्था में जनता की आस्था को बनाये रखने का प्रयास है।

“स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव” की असलियत

● योगेश

हाल ही में सम्पन्न पाँच राज्यों के चुनावों में मुख्य चुनाव आयुक्त एस.वाई. कुरैशी आचार संहिता को सख्ती से लागू करने की कोशिश करते नज़र आये। केन्द्रीय कानून मन्त्री सलमान खुर्शीद द्वारा चुनाव के दौरान एक विवादित बयान या कुछेक घटनाओं को छोड़कर इन चुनावों को ‘स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव’ के रूप में बुर्जुआ मीडिया द्वारा प्रचारित किया गया। राजनीतिक विश्लेषक निष्पक्ष और शान्तिपूर्ण ढंग से चुनाव सम्पन्न करा लेने के लिए चुनाव आयोग को लख-लख बधाइयाँ दे रहे हैं! मतदान प्रतिशत के थोड़ा-बहुत बढ़ने से लहालोट हुए बुर्जुआ मीडिया ने इसका श्रेय चुनाव आयोग द्वारा अपनाये गये सख्त नियम-कानूनों को दिया। इससे यह भी भ्रम फैला की आम जनमानस की मौजूदा चुनाव प्रणाली में आस्था बढ़ने लगी है। हालाँकि ऐसा कतई नहीं है और वैसे भी पूँजीवादी चुनाव प्रक्रिया लोगों के वास्तविक जनादेश को दर्शाती ही नहीं है।

फिर भी ‘स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव’ की असलियत को जानने के लिए मुख्य चुनाव आयुक्त एस.वाई. कुरैशी द्वारा उठाये गए कदमों की भी पड़ताल कर ली जाये। चुनाव आयोग द्वारा उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री मायावती और उनके द्वारा बनवायी गई हाथियों की मूर्तियों को कपड़े से ढकवाने में लाखों रुपये लगाने हों, कांग्रेस के एक विज्ञापन को नामंजूर करना हो, मीडिया द्वारा ‘ओपिनियन पोल’ पर प्रतिबन्ध लगाना या इन सब से थोड़ा बढ़कर केन्द्रीय कानून मन्त्री सलमान खुर्शीद द्वारा चुनाव के दौरान मुसलमानों को अतिरिक्त आरक्षण के बयान को आचार संहिता का उल्लंघन मानते हुए उनकी शिकायत करना हो, यह सब एक स्वाँग ही था। सलमान खुर्शीद के मुसलमानों को आरक्षण देने के बयान पर मचा हल्ला भी एक ड्रामा ही था, क्योंकि राष्ट्रपति ने शिकायत-पत्र प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह को भेज दिया और मनमोहन सिंह चुनाव के दौरान अपनी ही पार्टी के किसी मन्त्री पर कोई कार्रवाई क्यों करेंगे? स्वयं सलमान खुर्शीद ने चुनाव आयुक्त को एक पत्र लिखकर इस संस्था के प्रति सम्मान जाहिर किया; वे भी समझ गये कि ‘निष्पक्ष चुनाव’ के ढोंग के इस खेल में चुनाव आयोग से ही लोगों का विश्वास उठ जाये तो यह उनके लिए भी खतरनाक होगा। इतना सब करने के बाद भी चुनाव आयोग की आचार संहिता का उल्लंघन नए-नए तरीकों से होता रहा।

मीडिया के ‘ओपिनियन पोल’ पर रोक लग जाने के बावजूद भी वह किसी न किसी पार्टी के समर्थन में राय बनाता रहा। चुनाव आयुक्त चुनावी पार्टियों से आग्रह कर रहे थे कि जिन लोगों पर हत्या, बलात्कार आदि का केस दर्ज है उन्हें टिकट न दिया जाये। पर असलियत है कि इन चुनावों में आधे से ज्यादा प्रत्याशी अपराधिक पृष्ठभूमि के थे जिन पर अलग-अलग मामलों में केस दर्ज हैं। कई ऐसे भी थे जो जेल में बन्द रहकर ही चुनाव लड़ रहे थे! और इन मुद्दाविहीन चुनावों में एक-दूसरे की पार्टी को गुण्डों और अपराधियों की पार्टी बता रही सपा, बसपा, भाजपा, कांग्रेस और अन्य सभी पार्टियों या क्षेत्रीय दलों ने स्वयं अपराधी लोगों को टिकट देने में कोई लाज नहीं दिखाई। अनैतिकता और लूट पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत एकदम नंगे रूप में लोगों के सामने न आये इसलिए पहले टी.एन शेषन, जे.एम. लिंगदोह, और अब एस.वाई. कुरैशी एक अच्छे रेफरी की भूमिका निभाते हुए मैदान में कूद पड़े हैं। दरअसल पूँजीवादी जनतन्त्र के खेल में चुनाव आयोग की भूमिका महज एक रेफरी की ही होती है। इस खेल में शामिल होने की जो शर्त है, जो नियम और तौर-तरीके हैं उसके चलते ग़रीब मेहनतकश जनता तो इस खेल में खिलाड़ी के रूप में शामिल हो ही नहीं सकती है (और उसे इस खेल में शामिल होने की कोई दरकार भी नहीं है!)। वह इस खेल में महज एक मोहरा या अधिक से अधिक मूकदर्शक ही होती है। एक अच्छे रेफरी के बतौर चुनाव आयोग की भूमिका बस इतनी होती है कि खिलाड़ी ‘फाउल’ न खेले जिससे खेल में दिलचस्पी बनी रहे और मोहरे बिदक न जायें। पिछले कई चुनावों से इस खेल में शामिल खिलाड़ियों के बीच ‘फाउल’ खेलकर ही जीतने की होड़ मची हुई है। इसलिए चुनाव आयोग अति सजग और सक्रिय होने की कोशिश करता है। उसकी चिन्ता रहती है कि कहीं सारा खेल ही चौपट न हो जाये। एक बार अगर यह मान भी लिया जाये कि यह चुनाव वाकई स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो जाए तो भी सच्चे मायनों में आम जनता के जनप्रतिनिधि का चुनाव नहीं हो सकता। जिन चुनावों में एक आम आदमी चुनाव में खड़ा होने की हैसियत ही न रखता हो; जहाँ चुनाव में कोई नेता एक बार चुने जाने के बाद जनता का विश्वास खोने पर भी पाँच साल के लिए जनता की छाती पर मूंग दलने

(पेज 10 पर जारी)

संस्कृति-रक्षकों और धर्म ध्वजाधारियों का असली चेहरा

● शिवानी

यदि हम भारतीय राजनीतिक परिदृश्य की बात करें तो लम्बे समय से भारतीय जनता पार्टी के तारे गर्दिश में चल रहे हैं। और भाजपा के ये दुर्दिन जल्द समाप्त होते भी नहीं दिखलायी पड़ रहे हैं। विशेषकर, अगर कर्नाटक की ओर रुख करें तो वहाँ भाजपा की स्थिति बहुत-कुछ 'आसमान से गिरकर खजूर पर अटकने' वाली हो गयी है। एक विवाद खत्म नहीं कि दूसरा हाज़िर! अभी अवैध खनन मामले और भूमि आबण्टन में भाई-भतीजावाद के आरोपों के चलते पूर्व मुख्यमन्त्री येदियुरप्पा के इस्तीफ़े की यादें धुंधली भी नहीं पड़ी थीं कि राज्य की भाजपा सरकार एक और विवाद से घिर गयी! हाल ही में कर्नाटक विधानसभा की कार्यवाही के दौरान भाजपा के तीन मन्त्री मोबाईल पर पोर्न वीडियो देखते हुए पकड़े गये! ज्ञात हो कि इनमें से एक महिला एवं बाल कल्याण मन्त्री था! अपनी इस हरकत के जरिये यह महानुभाव कितना 'कल्याणकारी' काम कर रहे थे, यह तो साफ़ ही है! गौरतलब है कि कुछ समय पहले इस शख्स ने महिलाओं को हिदायत दी थी कि उन्हें यौन उत्पीड़न और बलात्कार से बचने के लिए "उत्तेजक" कपड़े नहीं पहनने चाहिए (शायद उनका मतलब था कि उन्हें कोई कपड़े नहीं पहनने चाहिए!!) यहाँ तक कह डाला था कि महिलाओं के लिए 'ड्रेस कोड' (!!) लागू होना चाहिए! कर्नाटक राज्य महिला आयोग द्वारा लगभग दो महीने पहले आयोजित एक कार्यशाला में उक्त मन्त्री यह सुझाव दे रहे थे कि यौन उत्पीड़न को कानूनों द्वारा नहीं बल्कि 'नैतिक मूल्यों' के जरिये ही रोका जा सकता है। लगता है माननीय मन्त्री जी उन्हीं 'नैतिक मूल्यों' की बात कर रहे थे जिनका नमूना उन्होंने विधानसभा में पेश किया!

रंगे हाथों पकड़े जाने की बावजूद इन 'जन-प्रतिनिधियों' की बेशर्मी की इन्तहाँ देखिये! इनका कहना था कि ऐसा करके उन्होंने कोई अपराध नहीं किया! संसद-विधानसभाओं की असलियत क्या है यह तो आज़ादी के चौंसठ साल बाद देश की जनता के सामने है। देश की मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई को तमाम नेता-मन्त्री संसद-विधानसभाओं में होने वाली फ़िज़ूल की बहसबाज़ी और जूतम-पैजार में कैसे उड़ाते हैं, यह भी किसी से छिपा नहीं। लेकिन इन 'जन-प्रतिनिधियों' को तो अपने इन बहसबाज़ी के अड्डों की 'गरिमा' का थोड़ा तो ख़्याल करना चाहिए! सदन की कार्यवाही के दौरान नेताओं का ऊँधना, सोना, एक-दूसरे पर जूते-चप्पल बरसाना, यहाँ तक कि एक-दूसरे पर कूड़ा फेंकना-यह सब तो देख ही लिया था। लेकिन सदन की कार्यवाही के दौरान खुलेआम पोर्न वीडियो देखना! यह तो शायद ही कहीं हुआ हो! एक-दूसरे को पीछे छोड़ने की गलाकाटू पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा की एक मिसाल यहाँ

भी देखने को मिलती है! इस वाक्ये के थोड़े दिन बाद लम्बे समय से देश के प्रधानमन्त्री बनने का ख़्वाब देख रहे आडवाणी जी का एक मजेदार बयान आया। उन्होंने देशवासियों में चरित्र-निर्माण पर ज़ोर देने की बात कही। अब इस तरह की बातें करना उन्हें शोभा नहीं देता। वैसे आडवाणी जी पहले या अकेले ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जो "उच्च" नैतिक मूल्यों की बात कर रहे हों। वह जिस संघ परिवार से ताल्लुक रखते हैं उसने तो देश में धर्म, भारतीय संस्कृति और नैतिकता की रक्षा का बीड़ा उठा रखा है! भारतीय संस्कृति को पाश्चात्य संस्कृति के आक्रमण से बचाने के लिए यह हर वैलेण्टाइन डे पर प्रेमी जोड़ों का शिकार करने निकल पड़ते हैं! हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए यह विश्वविद्यालयों में रामायण के ऐतिहासिक अध्ययन को पढ़ाये जाने का विरोध करते हैं, यह कहते हुए कि इससे उनकी 'भावनाओं' को ठेस पहुँचती है! स्त्रियों की नैतिकता और भारतीयता को यह कॉलेजों में लड़कियों के आधुनिक परिधान पहनने पर रोक लगाकर कलुषित होने से बचाते हैं! लेकिन यदा-कदा धर्म और संस्कृति के इन ठेकेदारों का असली चरित्र ऐसी ही घटनाओं से सामने आता रहता है।

कुछ वर्ष पहले भगवा ब्रिगेड के एक सिपहसालार के पोर्न वीडियो की सी.डी. संघ परिवार के स्थापना समारोह में बँट गयी! ऐसे लोग कौन-सी संस्कृति और "उच्च" नैतिक स्तर देश में स्थापित करेंगे इसका अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तें या यूँ कहें कि सभी तरह की फ़ासीवादी ताक़तें मिथकों को यथार्थ और 'कॉमन सेंस' बनाकर और प्रतिक्रिया की ज़मीन पर खड़े होकर कल्पित अतीत से अपनी राजनीतिक ताक़त और ऊर्जा ग्रहण करते हैं। जर्मनी में नात्सियों ने यही किया और भारत में संघ परिवार और उसके तमाम आनुषंगिक संगठन यही कर रहे हैं। स्त्रियों, दलितों, धार्मिक अल्पसंख्यकों, आदिवासियों और आम ग़रीब आबादी के प्रति इनका फ़ासीवादी रवैया बार-बार हमारे सामने आता है। ये ताक़तें इसे धर्म-सम्मत और संस्कृति-सम्मत बताकर सही ठहराती हैं और अनुशासित और निरन्तरतापूर्ण तरीके से मस्तिष्कों में विष घोलने का काम करती रहती हैं। ये ताक़तें जनता के बीच सतत् मौजूद हैं और इसलिए जनता के तमाम संघर्षों की एकजुटता के लिए नुकसानदेह हैं। इसलिए आज इन संस्कृति-रक्षकों और धर्मध्वजाधारियों के दोगले और पाखण्डी चेहरे को पूरे देश की जनता के सामने बेनकाब करने की ज़रूरत है। साथ ही, इन साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तों के ख़िलाफ़ समझौताविहीन संघर्ष चलाने की भी उतनी ही ज़रूरत है।

एक और छात्र चढ़ा अमानवीय शिक्षा व्यवस्था की बलि

● काजल

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) के छात्र अनिल कुमार की आत्महत्या ने कई बेहद गम्भीर और परेशान कर देने वाले सवाल को हमारे सामने ला खड़ा किया है। अनिल आरक्षित श्रेणी का एक छात्र था। अपने शैक्षणिक प्रदर्शन से हताश होकर उसने यह कदम उठाया। हिन्दी माध्यम का छात्र होने की वजह से वह कक्षा में अंग्रेज़ी में दिये जाने वाले व्याख्यानों को समझने में दिक्कत महसूस करता था। अध्यापकों से अपनी इस समस्या को साझा करने के बावजूद जब स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही तो वह अवसाद का शिकार रहने लगा। नतीजतन, वह प्रथम वर्ष की परीक्षा में असफल हो गया और आखिरकार उसने खुदकुशी कर ली।

एम्स में यह इस प्रकार की पहली घटना नहीं है। संस्थान में हर स्तर पर आरक्षित श्रेणी के छात्र-छात्राओं के साथ भेदभाव की बातें आम हैं। पिछले साल एक अन्य छात्र मुकुन्द भारती ने अपने साथ होने वाले भेदभाव के चलते आत्महत्या की थी। सितम्बर 2006 में संस्थान में दलितों और पिछड़े वर्ग से आने वाले छात्रों के साथ आपराधिक स्तर तक होने वाले भेदभाव की जाँच के लिए प्रो. थोराट की अगुवाई में एक समिति का गठन भी किया गया था। समिति द्वारा पेश की गयी रिपोर्ट में माना गया था कि एम्स में आरक्षित श्रेणी के विद्यार्थियों के साथ हर स्तर पर भेदभाव किया जाता है। इस भेदभाव को दूर करने के लिए समिति ने कुछ सुझाव भी पेश किये थे। लेकिन इन सिफारिशों पर कितना अमल हुआ होगा यह तो अमित की आत्महत्या ने साफ़ कर दिया है।

सोचने की बात यह है कि जब देश के सबसे प्रख्यात शैक्षणिक संस्थानों में से एक में सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर पृष्ठभूमि से आने वाले छात्रों के साथ इस प्रकार का भेदभावपूर्ण बर्ताव किया जाता है तो अन्य संस्थानों में क्या हाल होगा इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

कुछ वर्ष पहले दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू कॉलेज के एक छात्र ने भी अंग्रेज़ी में कमज़ोर होने के चलते और इस स्थिति में अध्यापकों और प्रशासन के असहयोग के चलते आत्महत्या कर ली थी। ये सारी घटनाएँ इस व्यवस्था द्वारा प्रचारित “काबिलियत की कद्र और पूछ” के तमाम खोखले और अर्थहीन दावों की भी पोल खोलकर रखती हैं। ऐसा नहीं है कि ये तमाम छात्र जो इस तरह का कदम उठाने के लिए मजबूर होते हैं वे किसी भी मायने में अन्य छात्रों से कमतर या नाकाबिल होते हैं। रात-दिन मेहनत करके अगर गरीब

पृष्ठभूमि से आने वाले लड़के-लड़कियाँ इन “उच्च” संस्थानों में पहुँच भी जाते हैं तो वहाँ उन्हें किस किस के अमानवीय बर्ताव का सामना करना पड़ता है, यह हमारे सामने है।

देश में उच्च शिक्षा पाने के योग्य आबादी का यदि सात प्रतिशत ही कॉलेज-विश्वविद्यालयों तक पहुँच पा रहा है तो यह उन बाकी के तिरानवे प्रतिशत की काबिलियत पर प्रश्न चिन्ह नहीं है बल्कि उस निकम्मी व्यवस्था पर एक धब्बा है जो उन्हें यह अवसर तक प्रदान नहीं कर सकती। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें काबिलियत या नाकाबिलियत का पैमाना आपकी जेब में रखी नोटों की गड्डी के वज़न से तय होता है, जिसमें विश्वविद्यालय और कॉलेज “शॉपिंग मॉल” बन गये हों और सीटों की खरीद-फ़रोख़्त खुले तौर पर होती हो, वहाँ सक्षम होना आपकी व्यक्तिगत काबिलियत पर कम और आपकी पारिवारिक एवं सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि पर ज़्यादा निर्भर करता है। वैसे भी पूँजी और मुनाफ़े पर टिकी इस व्यवस्था में सारी मुक्त प्रतिस्पर्द्धा सम्पत्तिधारी वर्गों के बीच ही होती है। इसलिए इस व्यवस्था में मौजूद शिक्षा व्यवस्था से किसी अन्य चीज़ की उम्मीद करना ही मूर्खतापूर्ण होगा।

एम्स की इस हालिया घटना को लें या फिर इस प्रकार तमाम ऐसी घटनाओं, इन्हें आत्महत्या कहना गुलत होगा। ये सब इस असमानतापूर्ण व्यवस्था द्वारा अंजाम दी गयी हत्याएँ हैं। ये हत्याएँ हैं स्वप्नों की और आकांक्षाओं की। और यह सिलसिला शायद तब तक नहीं थमेगा जब तक कि इस व्यवस्था का ही कोई विकल्प तैयार नहीं किया जाय।

“दुनिया प्रगति कर रही है, उसका भविष्य उज्ज्वल है, तथा इतिहास की इस आम धारा को कोई नहीं बदल सकता। हमें दुनिया की प्रगति और उसके उज्ज्वल भविष्य से सम्बन्धित तथ्यों का जनता में प्रचार करते रहना चाहिए, ताकि उसके अन्दर विजय का विश्वास पैदा किया जा सके।”

- माओ

एक साजिश जिससे जनता की चेतना पथरा जाए

● लालचन्द्र

नये वर्ष के तीसरे दिन यानी तीन जनवरी की रात लखनऊ सहित उत्तर प्रदेश के सात-आठ जिलों के लिए दशहत्त और आतंक का पर्याय बन गयी। आप शायद सोच रहे हैं कि ऐसी क्या हुआ था? यह कुछ और नहीं बल्कि एक अफवाह थी कि सोते आदमी पत्थर के बन जा रहे हैं, कि रात में कभी-भी भूकम्प आ सकता है, और यह बात यहाँ तक फैली की गोमती नदी के किनारे के कुछ गाँव जमीन में धँस गये हैं। देखते ही देखते यह अफवाह गाँवों-शहरों में फैल गयी, एकदम हवा की तेज़ी से। गाँवों में जागते रहो के नारे लगाकर कुछ लोग सो रहे लोगों को जगा रहे थे। उन्हें पूरी रात अलाव के पास बैठकर बितानी पड़ी। शहरों में क्या अमीर क्या गरीब सभी घरों से बाहर आ गये और मोबाइल से एक दूसरे की कुशल-क्षेम पूछने लगे, साथ ही यह भी बताते कि दुबारा सोना नहीं अन्यथा अनिष्ट हो जायेगा। धार्मिक आस्था के अनुरूप लोगों ने अपने ईष्ट देवों को याद करना शुरू कर दिया तो कुछ जगहों पर महिलाएँ अपने घरों के दरवाजों पर हल्दी लगे पंजों से छाप बनाने लगीं। इस तरह पूरी रात लोगों ने जागकर बितायी, सुबह होने पर ही लोग इस आशंका से मुक्त हो सके। इस घटना से कोई भी तार्किक व्यक्ति यह सोचने पर ज़रूर मजबूर होगा कि अनपढ़ की बात छोड़ भी दी जाये तो उन तथाकथित अमीर व 'पढ़े-लिखे' लोगों ने ऐसी सोच को सही मानकर उसके अनुरूप ऐसा आचरण क्यों किया? यह कोई नयी घटना नहीं है जिसमें ऐसा हुआ है बल्कि ऐसी कई घटनाएँ अलग-अलग अन्दाज़ में सामने आ चुकी हैं। कभी मुँहनोचवा का आतंक, तो कभी गणेश भगवान के दूध पीने की अफवाह, कभी समुद्र के पानी के मीठे होने की बात, कभी मोबाइल का आतंक (पंजाब क्षेत्र में — इस घटना में यह बात फैली थी कि एक खास नम्बर से मोबाइल पर फोन कॉल आती थी, रिसेव करनेवाले के मोबाइल की स्क्रीन लाल हो जाती थी और वह व्यक्ति मर जाता था) इस घटना के फैलने पर लोगों ने लैण्डलाइन फोन भी उठाना बन्द कर दिया था, केवल मोबाइल मैसेज के माध्यम से बात करते थे। बिना आग के धुआँ कैसे उठाया जाता है, इसके ये साक्षात् उदाहरण हैं। सरकारें अफवाहों को अनैतिक व गैरक़ानूनी मानती हैं परन्तु कभी भी उन लोगों की शिनाख़्त नहीं हो पायी जो अफवाह फैलाने के दोषी होते हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह मोबाइल कम्पनियों का कारनामा हो सकता है जो मैसेज द्वारा ऐसी अफवाह फैलाकर कुछ ही समय में काफ़ी पैसे बना सकते हैं। दूसरा ऐसी खबरें गाँव-देहातों में दर्शकों की संख्या बढ़ाने और इसके बल पर टी.वी. कम्पनियों की रेटिंग बढ़ाने का माध्यम बन गयी हैं। कुछ जाँचों के दौरान यह भी सामने आया था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने प्रचार

तन्त्र की प्रभाविता जाँचने के लिए ऐसी अफवाहों का सहारा लेता है। लेकिन समाज में ये ताकतें अफवाहें फैलाने में क्यों कामयाब होती हैं, यह सोचने की बात है। ऐसी बातों को मानने के कारण हमारे सामाजिक ताने-बाने में भी मौजूद हैं। कारण कि हम जिस समाज में पलते-बढ़ते हैं वहाँ पर तर्क करना, बहस करना, किसी चीज़ के होने के कारण को समझना हम नहीं सीख पाते। परिवार से लेकर शिक्षण संस्थाओं तक में यह कमी भारी पैमाने पर मौजूद है। जहाँ पर सिद्धान्त की बातें व्यवहार से कटी होगी वहाँ पर सिद्धान्त अर्थहीन बन जाता है। आज के समय पूरे विश्व ने जो प्रगति की है उसमें विज्ञान की ही भूमिका महत्वपूर्ण रूप से रही है। हमारे दैनिक जीवन के उपभोग की काफ़ी वस्तुएँ विशुद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर काम करती हैं। हम कमोबेश इनके बारे में जानते भी हैं परन्तु विज्ञान के कार्य-कारण सिद्धान्त, तर्क प्रणाली, हमारी चेतना में, जीवन के विविध आयामों में अमली रूप में स्थापित नहीं हो पाता है।

विज्ञान और तकनोलॉजी के युग में हम जी रहे हैं। पूरे देश के पैमाने पर दूरसंचार माध्यमों का जाल फैला है। जिसके माध्यम से लोगों को बेहतर शिक्षा, जो कि वैज्ञानिक हो, तार्किक हो जो हमें सोचने का व्यापक फलक मुहैया कराती हो, दी जा सकती है। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि इन संचार माध्यमों पर सरकारी-गैरसरकारी दैत्याकार कम्पनियों का इजारा है जिसका इस्तेमाल वे केवल मुनाफ़ा बटोरने के लिए करती हैं। इसी कारण केवल टी.वी. चैनलों पर ऐसे कार्यक्रम पेश किये जाते हैं जो कि हमें कूपमण्डूक, अतार्किक, ईश्वरीय शक्तियों पर भरोसा वाला आत्मविश्वासहीन व हिंसक बना रही हैं। बच्चों पर भी इसका काफ़ी बुरा प्रभाव हो रहा है।

'आह्वान' के पिछले अंक के टेरी ईगलटन पर लेख के एक अंश को उद्धृत करना उचित होगा जिससे हमारी बात और स्पष्ट हो सकेगी, कि "पूँजीवाद न सिर्फ़ विज्ञान और उसकी खोजों का मुनाफ़े के लिए आदमखोर तरीके से इस्तेमाल कर रहा है बल्कि आध्यात्म और धर्म का भी वह ऐसा ही इस्तेमाल कर रहा है। इसमें आध्यत्मिकता और धर्म का इस्तेमाल ज़्यादा घातक है क्योंकि इसका इस्तेमाल जनता के नियन्त्रण और उसकी चेतना को कुन्द और दास बनाने के लिए किया जाता है। पूँजीवाद विज्ञान की सभी नेमतों का उपयोग तो करना चाहता है परन्तु विज्ञान और तर्क की रोशनी को जनता के व्यापक तबकों तक पहुँचाने से रोकने के लिए या उसे विकृत रूप में आम जनसमुदायों में पहुँचाने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है।"

पूँजीवादी स्वर्ग के तलघर की सच्चाई

● शिवार्थ

दिसम्बर, 2011 में प्यू रिसर्च सेण्टर द्वारा अमेरिका में किये गये एक सर्वेक्षण में इस बात की पड़ताल की गयी, कि आज अमेरिकी समाज में कौन से अन्तरविरोध मुख्य तौर पर हावी हैं। परम्परागत तौर पर अमेरिकी समाज में चार प्रमुख अन्तरविरोध रहे हैं – प्रवासी और मूल निवासी के बीच, श्वेत और अश्वेत लोगों के बीच, जवान और उम्रदराज़ आबादी के बीच और धनी और ग़रीब के बीच का अन्तरविरोध। यह चार श्रेणियाँ ही मुख्य तौर पर इस सर्वेक्षण के आधार बिन्दु थीं। सर्वेक्षण में प्राप्त नतीजे इस प्रकार हैं – आज अमेरिका में दो-तिहाई यानी 66 प्रतिशत लोग धनी और ग़रीब के बीच तीखे अन्तरविरोध होने को स्वीकारते हैं। अगर 2009 से तुलना की जाये तो ऐसा मानने वालों में करीब 22 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ है। बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है, बल्कि पिछले 25 सालों में जब से इस तरह के सर्वेक्षण की शुरुआत हुई थी, पहली बार त्करीबन 30 प्रतिशत लोगों ने यह माना है कि आज अमेरिकी समाज में धनी और ग़रीब लोगों के बीच 'बहुत तीखे' वर्ग अन्तरविरोध व्याप्त हैं। एक बात और जो गौरतलब है कि, वैसे तो इस सर्वेक्षण के दौरान आबादी के हर संस्तर में लोगों ने इस तथ्य की पुष्टि की है, लेकिन करीब 71 प्रतिशत नौजवानों ने, यानी हर 10 में 7 नौजवानों ने यह स्वीकार किया है कि आज उनके देश में धनी और ग़रीब जनता के बीच बेहद तीखे अन्तरविरोध विराजमान हैं और यह अन्य सभी अन्तरविरोधों में प्रधान है। अब यह आसानी से समझा जा सकता है कि 'वॉल स्ट्रीट पर क़ब्ज़ा करो' आन्दोलन के बीच इतनी भारी संख्या में नौजवानों की उपस्थिति क्यों थी और वहाँ 'वी आर 99 परसेण्ट' के नारे क्यों लग रहे थे।

इस पहले कि हम इस सर्वेक्षण के नतीजों पर कुछ टीका-टिप्पणी करें, कुछ और तथ्यों पर नज़र डालते हैं। 2011 के आखिरी महीनों के दौरान प्राप्त आँकड़ों के अनुसार आज अमेरिका में बेरोज़गारी की दर करीब 9 प्रतिशत है और अगर इसमें 'पार्ट-टाइमर्स' यानी अर्द्धबेरोज़गारों को जोड़ दिया जाये तो यह आँकड़ा करीब 16.1 प्रतिशत तक पहुँच जाता है यानी हर 6 में 1 अमेरिकी बेरोज़गार या अर्द्धबेरोज़गार हैं। ग़रीबी रेखा सम्बन्धी प्राप्त आँकड़ों के अनुसार 34 करोड़ की कुल अमेरिकी जनसंख्या में करीब 5 करोड़ लोग ग़रीबी-रेखा के नीचे गुज़र-बसर कर रहे हैं और अन्य 10 करोड़ इस बस ऊपर ही है, यानी करीब आधी आबादी भयंकर ग़रीबी का शिकार है। खाद्य उपलब्धता सम्बन्धी आँकड़ों के बारे में अमेरिकी सरकार के कृषि विभाग के अनुसार हर चार में एक अमेरिकी नागरिक भोजन सम्बन्धी दैनिक ज़रूरतों के लिए राज्य सरकार एवं

विभिन्न दाता एंजेसियों द्वारा चलाये जा रहे खाद्य योजनाओं पर निर्भर है, क्योंकि वह अपनी आय से दो जून की रोटी ख़रीद पाने में अक्षम है। अगर शिक्षा की बात की जाये तो एक उदाहरण के जरिये चीज़ें समझना ज़्यादा आसान होगा। बर्कले विश्वविद्यालय का एक छात्र, आज करीब 11,160 डॉलर प्रति वर्ष शिक्षा शुल्क के तौर पर अदा करता है; आज से दस साल पहले वो 2,716 डॉलर खर्च करता था और उम्मीद है कि 2015-16 तक वह 23,000 डॉलर अदा करेगा। अब जैसा कि ऊपर इंगित किया कि बेरोज़गारी, ग़रीबी और खाद्य उपलब्धता की हालत अगर यह है तो जाहिरा तौर पर एक सामान्य अमेरिकी नौजवान शिक्षा का यह भारी खर्च स्वयं अपने या अपने परिवार के दम पर नहीं उठा सकता। इसके लिए उसे ऋण लेना होगा, जिसे कि वह भविष्य में प्राप्त होने वाले रोज़गार की आया से चुकाने के बारे में सोचेगा, लेकिन अगर रोज़गार की वर्तमान हालत यह है, जिसके भविष्य में और बिगड़ने के आसार हैं तो सवाल उठता है कि वह ऋण चुकायेगा कैसे? यानी या तो वह अशिक्षित रहकर अपने वर्तमान को तबाह कर लें या फिर भविष्य को गिरवी रख कर वर्तमान को बचा ले और भविष्य को तबाह करने की तैयारी करे। अमेरिकी समाज की वास्तविक स्थिति को दर्शाने के लिए कुछ और भी आँकड़े दिये जा सकते हैं, मसलन आज अमेरिका की ऊपरी 1 प्रतिशत आबादी की सम्पत्ति नीचे की 90 प्रतिशत की कुछ सम्पत्ति से अधिक है, लेकिन शायद अब तक पाठक के समक्ष वर्तमान समय में अमेरिकी समाज की बहुसंख्यक जनता की जीवन स्थितियों की एक तस्वीर उपस्थित हो गयी होगी। ऐसे में प्यू रिसर्च सेण्टर द्वारा किये गये सर्वेक्षण के हालिया नतीजे या फिर 'वॉल स्ट्रीट पर क़ब्ज़ा करो' आन्दोलन के दौरान उमड़ा जन सैलाब और उनके द्वारा लगाये जा रहे नारों में कुछ भी अप्रत्याशित नहीं है।

यह हालत महज़ अमेरिका की नहीं बल्कि आज यूरोप के तमाम विकसित और अर्द्धविकसित देशों की कमोबेश यही या इससे भी बदतर हालत है। जहाँ तक रही इनके कारणों की पड़ताल तो आज लगभग दुनिया भर में लोग इससे वाकिफ़ हैं कि कहीं न कहीं इस हालात के लिए वह वैश्विक आर्थिक मन्दी जिम्मेदार है जिसकी अभिव्यक्ति की शुरुआत 2006 में अमेरिका में 'सबप्राइम ऋण संकट' के साथ हुई थी। देखते ही देखते इस वित्तीय संकट ने आज 1930 के बाद के सबसे बड़ी महामन्दी का रूप अख़्तियार कर लिया है। इस पूरी प्रक्रिया के बारे में आह्वान के पिछले अंकों में विस्तार से लिखा गया है।

आज सवाल यह है कि 'अब क्या होगा?' क्या एक बार

फिर पूँजीवाद अपनी खोयी हुई ज़मीन प्राप्त कर लेगा और पिछले तीन दशकों से जारी नवउदारवादी नीतियों से अपने पैर पीछे खींचकर समावेशी विकास की राह पकड़ लेगा (क्योंकि इतना तो साफ हो गया है कि नवउदारवादी नीतियों के रहते हुए जनता के बहुलांश को तबाही-बर्बादी से बचाया नहीं जा सकता) या फिर पूँजीवाद भी ऐसा ही चलता रहेगा और जनता भी अपने कुछ जनआन्दोलनों से अपना विरोध दर्ज कराते हुए एक 'स्टेलमेट' की स्थिति कायम रखेगी या फिर विभिन्न देशों में 'टी पार्टी गुट' जैसे कुछ फासीवादी सत्ताएँ अस्तित्वमान होगी जो निरंकुश दमन के दम पर चीजों को निर्देशित-नियन्त्रित करने का काम करेंगी या फिर किसी एक या कुछ एक देशों में जहाँ इन वर्ग-अन्तरविरोधों की गाँठ सबसे तीखे रूप में अभिव्यक्त हो और एक रैडिकल क्रान्तिकारी पार्टी अस्तित्वमान हो, जो जनता के व्यापक संघर्षों को नेतृत्व देते हुए इन स्थितियों को क्रान्ति में तब्दील कर पूँजीवादी व्यवस्था का निषेध करते हुए एक नये सामाजिक-आर्थिक ढाँचे का विकल्प प्रस्तुत करें।

खैर, इन सम्भावनाओं और कुछ एक लोगों के शब्दों में इन 'अटकलों' पर और कुछ कहने से पहले आज की रोशनी में ज़रा उन दावों की शिनाख्त कर ली जाये, जो आज से डेढ़-दो दशक पूर्व साम्राज्यवाद के पूरे चरित्र को ही एक धुन्निय विश्व (जिसका अकेला चौधरी अमेरिका था) के रूप में परिभाषित कर रहे थे और यह कह रहे थे कि इस एक धुन्निय विश्व में साम्राज्यवादी देशों और पिछड़े हुए पूँजीवादी देशों के बीच के अन्तरविरोध ही प्रमुखता से कायम रहेंगे और यह कि साम्राज्यवादी देश पिछड़े देशों में जारी लूट के दम पर अपने देश में वर्ग-अन्तरविरोधों को विलुप्त प्राय कर देंगे। अगर अर्थशास्त्रीय पेचीदगियों को छोड़ भी दिया जाये तो 2006 के बाद जी-20 का अस्तित्व में आना; भारत, चीन, ब्राज़ील जैसे विकासशील देशों का लगातार विकसित देशों द्वारा अपनी बढ़ती हुई शक्तिमत्ता का एहसास कराया जाना और इन साम्राज्यवादी देशों के भीतर लगातार तीखे होते हुए वर्ग-अन्तरविरोधों का अभिव्यक्त होना; क्या यह सब किसी एक साम्राज्यवादी देश की पूरी दुनिया पर एकछत्र चौधराहट पर सवालिया निशान नहीं खड़ा कर रहा है? काऊत्स्की की अति-साम्राज्यवाद की थीसिस पहले भी ग़लत सिद्ध हो चुकी है और एक बार फिर हो रही है। इसके बारे में **लेनिन** ने पहले ही कहा था कि "...एक विश्व-ट्रस्ट के अस्तित्व में आने के काफ़ी पहले ही, राष्ट्रीय वित्तीय पूँजियों के "अतिसाम्राज्यवादी", विश्वव्यापी संलयन के घटित होने से काफ़ी पहले ही, साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में रूपान्तरित हो जायेगा।"

लेकिन जाहिर है कि यह अपने आप नहीं होगा। जब तक क्रान्ति के विज्ञान, रणनीति और आम रणकौशलों की सही समझदारी से लैस एक क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं होगी तब तक यह अपने आप नहीं हो सकता। आज क्रान्ति की सम्भावना रखने वाले देशों में एक ऐसे हिरावल की अनुपस्थिति ही हमारे सामने मौजूद सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या का हल निकाले बग़ैर हम आगे नहीं बढ़ सकते।

साहित्य

शमशेर बहादुर सिंह के 101वें जन्मदिवस (13 जनवरी के अवसर पर)

य' शाम है...

य' शाम है

कि आसमान खेत हैं पके हुए अनाज का
लपक उठीं लहू-भरी दराँतियाँ

-कि आग है :

धुआँ-धुआँ

सुलग रहा

ग्वालियार के मज़ूर का हृदय

कराहती धरा कि हाय-मय विषाक्त वायु

धूम्र तिक्त आज

रिक्त आज

सोखती हृदय

ग्वालियार के मज़ूर का।

ग़रीब के हृदय

टंगे हुए

कि रोटियाँ

लिये हुए निशान

लाल-लाल

जा रहे

कि चल रहा

लहू-भरे ग्वालियार के बज़ार में जुलूसः

जल रहा

धुआँ-धुआँ

ग्वालियार के मज़ूर का हृदय।

(ग्वालियार के मज़दूरों के जुलूस पर
सामन्ती रियासत ने बेरहमी से गोलियाँ
बरसाईं। इस गोली काण्ड के बाद शमशेर
बहादुर सिंह ने यह कविता लिखी थी।)

एक “ईमानदार” प्रधानमन्त्री के घड़ियाली आँसू

● आनन्द

वर्ष 2004 में जब कांग्रेस ‘आला कमान’ के निर्देश पर मनमोहन सिंह की प्रधानमंत्री पद पर पहली बार ताजपोशी की गयी थी तब कई विश्लेषकों ने यह सन्देह व्यक्त किया था कि सिंह लम्बे समय तक यह पद सम्भाल भी पायेंगे या नहीं। अक्सर सुनने में आता था कि वे बेचारे ठहरे एक ईमानदार आदमी! भारतीय राजनीति के गन्दे खेल में टिकने के लिए ज़रूरी दौंवपेंच और घाघपन उनमें कहाँ! लेकिन ‘आला कमान’ और उनके आका बुर्जुआ वर्ग को मनमोहन सिंह की वफ़ादारी और योग्यता पर भरोसा था क्योंकि मौजूदा व्यवस्था के अमानवीय चेहरे को ढँकने के लिए और जनता में इसके प्रति भ्रम बरकरार रखने के लिए शासक वर्ग को एक ऐसे बेदाग़ मुखौटे की ज़रूरत थी जिसकी साख़ अच्छी हो। सात वर्षों के कार्यकाल में प्रधानमंत्री महोदय ने न सिर्फ़ इस भरोसे को सही ठहराया बल्कि इस दौरान उन्होंने राजनीतिक घाघपन की विधा में महारथ भी हासिल कर ली है। इसकी कई मिसालें पिछले दिनों विभिन्न अवसरों पर प्रधानमंत्री के वक्तव्यों में देखने में आयी जिनमें उन्होंने ने विभिन्न क्षेत्रों में भारत के पिछड़ेपन पर छाती पीट-पीट कर स्थापा किया, मानो इस पिछड़ेपन में उनकी सरकार और इस पूरी व्यवस्था का कोई योगदान ही न हो!

पिछले 25 दिसम्बर को 20वीं सदी के विश्वविख्यात भारतीय गणितज्ञ रामानुजन के 125वें जन्मदिवस के अवसर पर प्रधानमंत्री ने गणित की ओर भारतीयों के कम होते रुझान पर दुख और चिन्ता जाहिर की। उसके बाद एक अन्य समारोह में मीडिया के सनसनी फैलाने के रवैये और ‘पेड न्यूज़’ जैसी परिघटनाओं पर सिर पीटा। 3 जनवरी को 99वें भारतीय विज्ञान कांग्रेस के उद्घाटन के अवसर पर तो प्रधानमंत्री ने भारत के विज्ञान में पिछड़ने के संकेत मिलने और विशेषकर चीन से पीछे हो जाने पर दहाड़ मारकर घड़ियाली आँसू बहाये। हद तो तब हो गयी जब प्रधानमंत्री महोदय ने कुपोषण पर एक रिपोर्ट का विमोचन करते हुए भारत में कुपोषण की विभीषिका पर शर्मसार होने का ढोंग किया। ऐसा मानवद्रोही ढोंग करते हुए शायद प्रधानमंत्री महोदय ने सोचा होगा कि चूँकि जनता की याददाश्त कमज़ोर होती है इसलिए वह भूल चुकी होगी कि अभी कुछ ही महीने पहले उन्होंने सरकारी गोदामों में सड़ रहे और चूहों की भेंट चढ़ रहे अनाज को गरीबों में बाँटने से बेरहमी से मना कर दिया था और इस मामले में उच्चतम न्यायलय तक को ठेंगा दिखा दिया था।

कुपोषण की समस्या पर प्रधानमंत्री की स्वीकारोक्ति इसलिए एक मानवद्रोही ढोंग है कि अर्थशास्त्री होने के नाते

उन्हें यह तो भली-भाँति पता होगा कि हमारे देश में कुपोषण की समस्या किसी दैवीय आपदा का दुष्परिणाम नहीं बल्कि मौजूद सामाजिक-आर्थिक ढाँचे की उपज है जिसको पिछले दो दशकों से निहायत ही बेशर्मी से लागू की जा रही नवउदारवादी नीतियों ने और भी ज़्यादा उभारा है। मनमोहन सिंह ने इन नीतियों को भारत में लागू करने में प्रारम्भ से ही नेतृत्वकारी भूमिका निभायी है। इन नीतियों की वजह से जहाँ एक ओर पूँजीपति वर्ग ने बेहिसाब मुनाफ़ा पीटा है और एक छोटा सा खाता-पीता मध्यवर्ग पनपा है वहीं दूसरी ओर देश की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की प्रभावी आमदनी और उनकी ख़रीदारी की क्षमता में कुल मिलाकर गिरावट ही देखने को आयी है। पिछले दो दशकों के दौरान श्रम का अनौपचारिकरण अभूतपूर्व रूप से बढ़ा है, आदिवासी और छोटे-मझोले किसान तबाह हो रहे हैं व व्यापक मेहनतकश आबादी का जीना दूभर हो गया है। देश के त्वरित पूँजीवादी विकास के लिए ज़रूरी आदिम पूँजी संचय आदिवासियों और किसानों को उनके जीविकोपार्जन के साधनों से उजाड़कर अर्जित किया जा रहा है। ऐसे में सामाजिक असुरक्षा के साथ ही साथ खाद्य असुरक्षा का बढ़ना आश्चर्यजनक नहीं बल्कि स्वाभाविक है। प्रधानमंत्री महोदय ने कुपोषण की समस्या पर घड़ियाली आँसू बहाते हुए ऐसा स्वाँग रचा मानो वो पहली बार इस नंगी सच्चाई से रूबरू हो रहे हों! यही नहीं बड़ी ही सफ़ाई से उन्होंने इस समस्या के मूल कारण से किनारा करते हुए इसके विकराल रूप धारण करने का सारा जिम्मा आँगनबाड़ी जैसी सरकारी स्कीमों को सही ढंग से लागू करने में प्रशासन की विफलता पर डाल दिया और इन स्कीमों को और प्रभावी बनाने का भरोसा दिलाकर समस्या के प्रति अपनी संजीदगी दिखाने का हास्यापद प्रयास भी किया।

मीडिया के सनसनी फैलाने वाले रवैये और ‘पेड न्यूज़’ जैसी परिघटनाओं पर अपने वक्तव्य में प्रधानमंत्री ने बड़ी ही चालाकी से समस्याओं पर ज़ोर देने का नैतिक उपदेश दे डाला। प्रधानमंत्री के वक्तव्य को सुनकर ऐसा लगा मानो वे मीडिया को एक बिगड़ैल बच्चे के समान समझते हैं जो कुछ समय के लिए पथभ्रष्ट हो गया है और उनके उपदेश सुनकर उसका हृदय-परिवर्तन हो जायेगा तथा वह जनपक्षधर हो जायेगा! प्रधानमंत्री यदि ईमानदारी से इस समस्या पर चिन्तन-मनन करते तो पाते कि लोकतन्त्र के चौथे खम्भे की एक-एक ईंट पूँजीपतियों द्वारा ख़रीद ली गई है। मीडिया अब विशुद्ध रूप से मुनाफ़ा कमाने का प्रभावी उपकरण बन चुका है, समाचार माल में परिवर्तित हो चुके हैं, पाठक और दर्शक उपभोक्ता में

तब्दील हो चुके हैं। टीआरपी रेटिंग की अन्धी प्रतिस्पर्धा में सनसनीखेज और मसालेदार खबरें और अधिक मुनाफ़ा कमाने का सुगम मार्ग हैं। ऐसे में मीडिया के मालिकों को क्या पागल कुत्ते ने काट रखा है कि वे प्रधानमन्त्री की नसीहत मानकर गम्भीर खबरें और विश्लेषण दिखाकर मुनाफ़े की दौड़ में पीछे रहेंगे? प्रधानमन्त्री महोदय भी इस सच्चाई से वाकिफ़ ही होंगे लेकिन उनको अपनी संजीदा छवि दिखाने के लिए कुछ नसीहतें तो देनी ही थीं और वही उन्होंने किया!

विज्ञान और गणित के क्षेत्र में भारत के पिछड़ेपन पर प्रधानमन्त्री का चकित होना भी उनकी मासूमियत नहीं बल्कि उनके घाघपन का ही परिचायक है। क्या प्रधानमन्त्री महोदय को यह नहीं पता है कि आज़ादी के छह दशक बाद भी इस देश में बच्चों की विशाल आबादी प्राथमिक शिक्षा से ही महरूम है और अपना व अपने परिवार का पेट भरने के लिए ढाबों और गैराजों में अपनी श्रम शक्ति बेचने के लिए मजबूर है या फिर शहरों की सड़कों और चौराहों पर भीख माँगकर गुज़ारा करती है। गरीबों के जो बच्चे किसी तरह सरकारी स्कूल में दाखिल हो भी जाते हैं उनकी शिक्षा भी बस नाम के लिए ही होती है। नवउदारवाद के इस दौर में सरकारी स्कूलों की स्थिति बद से बदतर हुई है। ऐसे में यह उम्मीद करना कि ये बच्चे विज्ञान और गणित में मौलिक खोजें कर देश का नाम रोशन करेंगे, एक चमत्कार की उम्मीद के समान है।

वैसे शायद प्रधानमन्त्री महोदय गरीबों के बच्चों को इस काबिल ही नहीं समझते कि वो विज्ञान या गणित में कोई मौलिक खोज कर सकते हैं, उनकी निराशा तो दरअसल मध्यवर्ग के उन होनहारों को लेकर है जो कोई मौलिक वैज्ञानिक खोज करने में निहायत ही फिसड्डी साबित हुए हैं! हकीकत तो यह है कि आज शिक्षा को एक चटपट मुनाफ़ा कमाने वाला व्यवसाय बना दिया गया है। स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय उद्योग जगत के लिए मानवीय संसाधनों को तैयार करने का उद्यम बनते जा रहे हैं। इन उद्यमों के मानवीय उत्पादों की हैसियत वैश्विक असेम्बली लाइन के पुर्जे के समान होती जा रही है और उसी की ज़रूरतों के मुताबिक उन का शिक्षण-प्रशिक्षण होता है।

ऐसे परिदृश्य में समूचे समाज में पूँजी की नई संस्कृति विकसित हुई है जिसमें अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा को एक निवेश समझते हैं और बच्चों के नैसर्गिक रुझान की

परवाह किये बगैर उनका दाखिला ऐसे कोर्सों में कराने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा देते हैं जिनमें मोटी पगार पाने की सम्भावना अधिक हो। वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में जाने वाले छात्रों में अधिकांश अपनी रुचि की वजह से नहीं बल्कि किसी अन्य बेहतर विकल्प के अभाव में मजबूरन आते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान में वास्तविक रुचि रखने वाले अधिकांश छात्रों की मेधा को अमेरिका या यूरोप के साम्राज्यवादी अपनी पूँजी की ताकत से ऊँची बोली लगाकर खरीद लेते हैं। यही कारण है कि नासा जैसी अनुसंधानिक संस्था में भारतीय वैज्ञानिकों की अच्छी-खासी तादाद है। भूमण्डलीकरण के दौर में मेधा की इस खरीद-फरोख्त में बेहिसाब तेज़ी आयी है। ऐसी परिस्थितियों में यदि भारत में मौलिक खोज नहीं हो पा रही है तो यह कतई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होता जब इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भारत विज्ञान और गणित के अनुसंधान में अग्रणी भूमिका निभाता नज़र आता।

गौर करने वाली बात यह भी है कि प्रधानमन्त्री जब विज्ञान में भारतीयों के पिछड़े होने की बात कबूल रहे थे उस समय उनका इशारा महज़ इन क्षेत्रों में अन्य देशों के मुकाबले भारतीय पेटेण्टों की संख्या में कमी की ओर था। उनका ज़ोर व्यापक समाज में धार्मिक कट्टरपन के उभार, अन्धविश्वासों की नये रूपों में वापसी, ज्योतिष, टैरो, फेंगशुई जैसी घोर अवैज्ञानिक धाराओं की विज्ञान का चोला ओढ़ कर समाज में मौजूदगी, आदि जैसी परिघटनाओं पर नहीं था जो समाज की औसत वैज्ञानिक चेतना को भोथरा करती हैं और जनमानस के बड़े हिस्से में प्रकृति और समाज की भौतिकवादी समझ स्थापित करने की बजाय भाग्यवादी विचारों की पैठ बनाती हैं। एक घाघ पूँजीवादी दार्शनिक की भांति प्रधानमंत्री महोदय ने वैज्ञानिक चेतना का इस्तेमाल महज पूँजीवादी उत्पादन और मुनाफ़े में वृद्धि के अस्त्र की तरह करने पर ज़ोर दिया लेकिन इतिहास गवाह है कि जब भी किसी समाज में वास्तव में वैज्ञानिक चेतना का विकास होता है तो ऐसे तमाम दार्शनिकों और शासकों की इच्छा से स्वतन्त्र जनता की वैज्ञानिक चेतना महज प्रकृति के अनसुलझे सवालों को ही सुलझाने तक सीमित नहीं रहती, बल्कि अस्तित्वमान सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को भी कठघरे में खड़ा करती है और उसके विकल्प के बारे में भी सोचती है।

“जिस धरती पर हर अगले मिनट एक बच्चा भूख या बीमारी से मरता हो, वहाँ पर शासक वर्ग की दृष्टि से चीजों को समझने की आदत डाली जाती है। लोगों को इस दशा को एक स्वाभाविक दशा समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। लोग व्यवस्था को देशभक्ति से जोड़ लेते हैं और इस तरह से व्यवस्था का विरोधी एक देशद्रोही अथवा विदेशी एजेण्ट बन जाता है। जंगल के कानूनों को पवित्र रूप दे दिया जाता है ताकि पराजित लोग अपनी हालत को अपनी नियति समझ बैठें।”

-एदुआर्दो खालियानो (अर्जेण्टीना के लेखक)

एक शर्मनाक फैसले की हकीकत

● श्वेता

क्या आप संवेदनशील, न्यायप्रिय और इंसाफ़पसन्द हैं? क्या अन्याय के विरुद्ध विद्रोह को आप न्यायसंगत समझते हैं? क्या शोषण के खिलाफ होने वाली बग़ावत को आप सही मानते हैं? अगर इन सवालों का जवाब हाँ है तो सावधान! किसी भी क्षण आपको “गुण्डा” घोषित कर समाज के लिए ख़तरनाक बताया जा सकता है! अभी हाल में ऐसी ही एक शर्मनाक घटना गोरखपुर जिले में सामने आयी।

यहाँ तीन जनवरी को मज़दूरों के संघर्ष की अगुवाई करने वाले बिगुल मजदूर दस्ता के कार्यकर्ताओं और एक मजदूर प्रतिनिधि के खिलाफ जिला प्रशासन ने गुण्डा एक्ट लगाकर जिलाबदर (जिले से बाहर कर दिया जाना) का आदेश किया। गौरतलब है कि प्रशासन ने एक पक्षीय रुख अपनाते हुए चन्द दिनों के भीतर ही इस कार्यवाही को अंजाम दिया। वर्ष 2011 में 8 नवम्बर को इस मामले की पहली सुनवाई हुई और दो महीने से भी कम समय में 3 जनवरी, 2012 को इस मामले में फैसला सुनाया गया। जहाँ एक तरफ कानूनी मामलों के निपटारे में सालों-साल बीत जाते हैं वहीं जिला प्रशासन ने जिस फुर्ती से इस मामले पर फैसला सुनाया, उसकी सचमुच दाद देनी पड़ेगी! बड़े ही सुनियोजित तरीके से स्थानीय पुलिस, जिला प्रशासन, पूँजीपतियों और बाहुबली नेताओं के गठजोड़ ने साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति पर अमल करते हुए इस कार्यवाही को अंजाम दिया।

ज्ञात हो कि गोरखपुर जिले के बरगदवा औद्योगिक क्षेत्र में वर्ष 2009 से ही अलग-अलग कारखानों के मजदूर समय-समय पर अपनी जायज़ माँगों को लेकर संघर्षरत रहे हैं। मज़दूरों को अपने हकों की लड़ाई में संगठित करने में बिगुल मजदूर दस्ता ने शुरू से ही नेतृत्वकारी भूमिका निभाई है। मजदूर संघर्ष की तेज़ी से जिले के पूँजीपति भयाक्रान्त हैं। स्थानीय पूँजीपति इस सच्चाई से अच्छी तरह वाकिफ़ हैं कि मजदूरों को अपने हकों के प्रति सजग बनाने में बिगुल मजदूर दस्ता ने एक अहम भूमिका निभाई है। शोषण का वही पुराना माहौल कारखानों में लौट आये ताकि पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़े, इसके लिए स्थानीय कारखाना मालिकों के लिए बिगुल मजदूर दस्ता का सफ़ाया करना बेहद जरूरी था। इसी सोच के तहत वहाँ के पूँजीपतियों ने हर मुमकिन कोशिश करके पुलिस-जिला प्रशासन व स्थानीय नेताओं की मदद से बिगुल के कार्यकर्ताओं पर फर्जी मुकदमों लगाकर उन्हें कानूनी मामलों में उलझाने का चक्रव्यूह रचा। इसी साजिश के नतीजे के रूप में सामने आया बिगुल के कार्यकर्ताओं पर गुण्डा एक्ट लगाये जाने का फैसला व उन पर जिलाबदर का आदेश सुनाया जाना।

जिला प्रशासन मज़दूरों के संघर्ष की अगुवाई करने वालों को “गुण्डा” घोषित कर रही है, वहीं दूसरी तरफ मज़दूरों पर गोलियाँ बरसाने वाले कारखाना मालिकों व कृष्यात गुण्डों (वर्ष 2011 में 3 मई को अंकुर उद्योग के मालिक अशोक जालान ने गुण्डों का बुलाकर मज़दूरों पर गोलियाँ चलवाई जिसमें 20 मजदूर गम्भीर रूप से घायल हुए थे) को खुला संरक्षण दे रही है। गोलीकाण्ड के मुख्य अभियुक्त आज भी खुलेआम घूम रहे हैं, अभी तक उनकी कोई गिरफ्तारी नहीं हुई है।

गोरखपुर की यह घटना एक मात्र ऐसी घटना नहीं है। देशभर में जहाँ कहीं भी आम जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत है, वहाँ राज्यसत्ता फर्जी मुकदमों में उलझाकर, उनपर या तो “गुण्डा” या माओवादी होने का लेबल चस्पाँ कर रही है। इसमें से कुछ एक घटनाएँ तो मीडिया में कहीं दिखाई-सुनाई पड़ती हैं, पर अधिकतर घटनाओं को व्यवस्थित तरीके से दबा दिया जाता है। यहाँ तक कि मीडिया खुद भी ऐसे मुद्दों को ब्लैकआउट करने का काम करती है। अपने हकों के लिए आवाज़ उठाने के लोकतान्त्रिक अधिकार को राज्यसत्ता अलग-अलग तरीकों से दबाने-कुचलने का काम करती है, पर इस सबके खिलाफ़ कहीं कोई पुरजोर विरोध सुनाई नहीं पड़ता है। कुछ प्रतीकात्मक विरोध के अलावा हर तरफ मुर्दा शान्ति का माहौल व्याप्त है। यह पूरा परिदृश्य हर जिन्दा इंसान को सोचने व अपनी चुप्पी तोड़ने का संदेश दे रहा है। तय करने की जिम्मेदारी हमारी है।

नये साल के मौके पर...

सपनों को कसकर पकड़े रखो
क्योंकि अगर सपने मर गये
तो जीवन है टूटे परो वाली एक चिड़िया
जो उड़ नहीं सकती।

सपनों को कसकर पकड़े रखो
क्योंकि सपनों के बग़ैर
जीवन है एक बंजर खेत
बर्फ़ से ढँका हुआ।

-लैंग्स्टन ह्यूज़

श्रीराम सेने की ‘राष्ट्रभक्ति’ का एक और नमूना

● आशीष

अपनी पहचान और ज़मीन तलाशती हिन्दुत्ववादी ताकतें लगातार अपने पुराने हरबे-हथियार का नये-नये ढंग से इस्तेमाल करती नज़र आ रही हैं। हिटलर के प्रचारमन्त्री गोयबल्स की भाषा में झूठ पर झूठ बोलना और इतनी बार बोलना कि लोग भ्रमित हो जायें। वे मानने लगें कि हो न हो ये ‘सच’ ही कह रहे होंगे। और यही नहीं, ये अपने स्वनिर्मित ‘झूठ’ को सच्चाई का लिबास पहनाने की ख़ातिर बेतरह किसिम से षड्यन्त्रकारी योजनाएँ बनाते मिलते हैं।

जनवरी, 2012 की पहली सुबह जब देश-दुनिया नये साल के जश्न में मशगूल था, कि उसी दरम्यान ‘राष्ट्रभक्तों’ की यह मण्डली ‘राष्ट्र’ के नाम कुछ कर गुजरने को बेहद उतावली दिखी। ‘राष्ट्र भक्त मण्डली’ से मेरा मतलब है श्रीराम सेने सरीखा एक गिरोह, जिनके शालीनतापूर्ण व्यवहार में पब में घुसकर महिलाओं से बदतमीज़ी करना, कलाकृतियों की तोड़-फोड़, किताबें जलाना और भी कई किसिम की राष्ट्रसेवा के क्रियाकलाप हैं, जिनसे हमारे समाज का ज़हीन और संवेदनशील तबका बखुबी वाकिफ़ है। इनके राष्ट्र की परिभाषा कुछ अलग किसिम की है। इनके एजेण्डे में भूख, बेकारी, बढ़हाली पैदा करने वाली मशीनरी नहीं है। न ही इन सवालों की तपतीश में ये जाते हैं। ये राष्ट्र की सेवा किस तरह से करना चाहते हैं? ये राष्ट्र की सेवा किस तरह से करना चाहते हैं उसकी एक ताज़ा मिसाल आपके सामने है।

कर्नाटक के बीजापुर के सिन्दगी में तहसीलदार के कार्यालय पर पहली जनवरी, 2012 को पाकिस्तान का झण्डा फहराता मिला। ठीक अगले दिन बजरंग दल, विहिप और श्रीराम सेना आदि के सिपहसालार ऐसी भयानक साज़िश का पर्दाफाश करने सड़कों पर उतर पड़े। जगह-जगह बन्द का आयोजन। प्रदर्शन की शुरुआत करने लगे। इस पूरे मामले को सनसनीखेज़ और उत्तेजक बनाने के लिए इनके मुखारविन्द तयशुदा नारों और जयकारों के लिए खुल गये। माहौल में गरमी लाने की भरपूर कोशिश की गयी। सुरक्षा बलों पर पत्थरबाज़ी! पुलिस अधिकारियों से दो-दो हाथ करने को आतुरता! हो भी क्यों न भारत माता के प्रति इनके अन्दर की अगाध श्रद्धा उछाले मार-मारकर बाहर आना चाहती थी!

सड़कों पर उतरे इन बाँके लालों ने माँग रखी कि सरकारी दफ़्तर पर पाकिस्तानी झण्डा फहराने की साज़िश का परदाफाश किया जाये, दोषियों को गिरफ़्तार किया जाये। एकदम दुरुस्त बात है! सरकारी इमारत पर पाकिस्तानी झण्डा? आखिर क्यों? भाई, सरकारी इमारत कोई खेल का मैदान तो है नहीं कि किसी भी देश का झण्डा सौहार्द प्रदर्शन हेतु फहरा दिया जाये!

खैर! बात इनकी बनी-बनायी योजना के तहत आगे बढ़ती कि इनका खेल ही बिगड़ गया या यूँ कहें कि इनके बने-बनाये तूमार

की हवा महज़ एक सूचना ने फुसफुसा के बाहर कर दी। आनन-फानन में हुई पुलिसिया जाँच-पड़ताल में पता चला कि इस सारे कारनामे के पीछे कोई और नहीं बल्कि इनके ही सगे-सहोदर हैं। इस साज़िश के लिए पकड़े गये छहों धुरन्धर श्रीराम सेने के ही निकले। यही नहीं जाँच में यह भी पता चला कि फहराया गया पाकिस्तानी झण्डा गिरफ़्तार आरोपियों में से ही एक के घर में तैयार किया गया था।

ये लाइने पढ़ते हुए हो सकता है आपको भी भगवतीचरण वर्मा की कहानी ‘दो बाँके’ सहसा स्मरण में आ गयी हो कि फर्ज़ी भौकाल गाँठते इन वीर-बाँकुरों की असलियत क्या है? हो न हो आपके मुँह से यही पंक्ति प्रस्फुटित हो कि “मुल्ला ख़ूबै स्वांग रच्यौ”।

सनद रहे यह कोई पहला खुलासा नहीं है। जब इन ‘राष्ट्र भक्तों’ की पोल खुली हो। न ही यह पहली बार है जब इनके ठिकानों से नकली दाढ़ी, टोपी ओर बुकें बरामद हुए हों। जाहिर-सी बात है ये इन मुस्लिम पोशाकों का इस्तेमाल नाटक मण्डली में नहीं करते होंगे, बल्कि अपने पोशीदा इरादों को अमली जामा पहनाने के लिए ही इन पोशाकों का इस्तेमाल करते होंगे।

इन तथ्यों से गुज़रते हुए हमारी आँखों के सामने अनायास अजमेर शरीफ, मक्का मस्जिद, मोडासा आदि जगहों पर हुए बम विस्फोट या दंगा-फसाद की स्मृति ताज़ा हो जाती है। मानो वे अनगिनत लोग हमसे सवाल कर रहे हों कि हमारी मौतों के ज़िम्मेदार ख़ूँखार बघनखों के पंजे कब उखाड़ोगे? क्या उन्हें पहचानते भी हो? वेश-भूषा में परम आनन्द की तलाश करते कुछ और ही दिखते हैं। स्वामी असीमानन्द, साध्वी प्रज्ञा ठाकुर, कैप्टन पुरोहित व प्रमोद मुतालिक महज कुछ चेहरे भर नहीं हैं। ये वही हैं जो सांस्कृतिक शुचिता के नाम पर महिलाओं के साथ अपमानजनक व्यवहार करते हैं। तर्कसम्मत विचारों को ले जाने वाले माध्यमों को अपने ‘वीरत्व’ का निशाना बनाते हैं, तो वहीं नेपथ्य से बहुसंख्यक आबादी को मूल मुद्दों से भटकाने के लिए सुनियोजित कार्ययोजना अमल में लाते हैं। गुजरात 2002 की भयावह नरहत्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अपने इन्हों तरीकों से ‘राष्ट्र आराधना’ करते ये ‘राष्ट्र भक्त’ इस देश को न जाने किस गौरवशाली अतीत में ले जाने को उतारू हैं। पर इतिहास गवाह है कि जब मेहनतकश अवाम जागती है, लामबन्द होती है तब इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ वही बर्ताव करेगी जैसा हिटलर और उनके आर्यत्व-श्रेष्ठता के साथ किया था।

ये समस्त प्रतिक्रियावादी ताकतों की एक पहचान सर्वव्यापी है। ये झुण्ड में पौरुष दिखाते हैं। इनकी कायराना हरकत इस ताज़ा घटना में भी देखने को मिली। बीजापुर में सड़कों पर प्रदर्शन के दौरान बहुमुखी हिन्दुत्ववादी एक साथ जयघोष कर रहे थे। इनके सारे मुखौटे एकजुट थे, पर जैसे ही इनकी असलियत खुलकर सामने

आ गयी, ये सब हर बार की तरह मैं नहीं-मैं नहीं, कहकर अपना-अपना दामन पाक-साफ बताने में लग गये। श्रीराम सेना के कर्ताधर्ता प्रमोद मुतालिक बयान देने लगे कि यह गिरफ्तारी श्रीराम सेना को बदनाम करने के लिए की गयी है और पकड़े गये सभी युवक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' के सदस्य हैं। वैसे तो आर.एस.एस. इस मामले पर अपने मुँह पर टेप चिपका के बैठ गयी है, अगर बोली तो मेरी मानो यही कहैगी कि आर.एस.एस. एक सांस्कृतिक संगठन है! ऐसे राष्ट्रविरोधी कुकृत्य का हम कतई समर्थन नहीं करते! यह राष्ट्र विरोधियों की सोची समझी साजिश है! आदि-आदि। यह गोयबल्लीय भाषा शैली का सुन्दर समन्वय कब तक करते रहेंगे। जब तथ्य इनके चेहरे पर पुते नकाब को बारम्बार खुरच रहे हों!

इस घटना को ज़रा इस निगाह से भी देखें कि गर समय रहते इन साजिशकर्ताओं की निशानदेही नहीं हो पाती तो क्या हुआ होता! सहज कल्पनीय है कि बीजापुर में नये साल की नयी सुबह खून से तरबतर होती। 'राष्ट्रभक्ति' के अलमबरदारों को तथाकथित पड़ोसी मुल्क और अल्पसंख्यक जमात पर इस तोहमत को मढ़ने का मौका मिलता। ये लगातार सुर्खियों में आते। मीडिया उत्तेजक सामग्री के बतौर इस ख़बर को बेच रहा होता। कई बार की तरह इस बार भी प्रशासन व मीडिया छूटते ही किसी मुस्लिम आतंकवादी संगठन का नाम इस साजिश से जोड़ देता। रातों-रात दाढ़ी-टोपी वाले कुछ लोगों का स्केच जारी हो जाता। मक्का मस्जिद और दिल्ली हाईकोर्ट पर हुए विस्फोट की तरह पूछताछ के लिए कुछ को पकड़कर अन्दर ढूँस दिया जाता। और तब यह मीडिया क्या यूँ ही चुप्पी साधे बैठी रहती, जैसे अब बैठी रही है। शायद नहीं। हम जानते हैं कि मीडिया बहुसंख्यक आबादी से जुड़े घटनाक्रम पर थोड़ा झिझककर राय रखती है। ज्यादा पुरानी बात नहीं विगत साल सितम्बर माह में ही जब दिल्ली हाईकोर्ट के गेट पर विस्फोट हुआ था। विस्फोट की घटना घटित होने के बाद दृश्य-श्रव्य माध्यमों से घटना का प्रस्तुतीकरण ऐसा किया जा रहा था, मानो इसके लिए कोई खास समुदाय ही जिम्मेदार है। धमाके की जाँच में जुटी जाँच एजेंसियों ने बिना किसी सुबूत के मिले ही 'स्केच' जारी कर दिया। आनन-फानन में पता चला कि पहला ई-मेल आतंकवादी संगठन हूजी की तरफ से आया है, बाद में पता चला वह ईमेल जम्मू-कश्मीर के किश्तवाड़ से आया था। इसी मामले में दूसरा ईमेल गुजरात के अहमदाबाद से आया था। बताया गया इसमें मनु नाम के युवक का नाम सामने आया है। इस युवक के बारे में न तो मीडिया ने चर्चा की न ही प्रशासन ने। इसी मामले में एक ई-मेल के बारे में बताया गया कि 'छोटू मिनानी' के नाम से 'इण्डियन मुजाहिदीन' ने भेजा है। जाँच उपरान्त पता चला यह मेल पश्चिम बंगाल व झारखण्ड की सीमा पर स्थित पाकोड़ नामक स्थान से भेजा गया था। उसका नाम शनि शुक्ला बताया गया। और अख़बार में ख़बर बनी कि 'मजाक में ई-मेल भेजने के सिलसिले में युवक को गिरफ्तार किया गया।' वहीं यह भी बताया गया कि यह चौदह साल का नाबालिग है। वहीं इसी मीडिया में किश्तवाड़ से पकड़े गये दोनों मुस्लिम लड़कों के नाबालिग होने का जिक्र नदारद था। वहीं उन पर आरोप बना कि इण्टरनेट के माध्यम से धमकी भरा ई-मेल भेजा। तो यह है मीडिया की धर्म-निरपेक्षता!

पूँजीवादी समाज व्यवस्था में हर चीज़ माल है। ख़बर भी एक

माल है। ऐसी ख़बर जो बहुसंख्यक तबके के बीच ज़्यादा कीमत देगी उसी हिसाब से ख़बरों का चयन और प्रस्तुतीकरण किया जाता है और सत्ता व्यवस्था में गद्दी का खेल खेलने वाली चुनावी पार्टियाँ वोटों की बिसात पर अपने मोहरे सजाती हैं। वहीं दूसरी तरफ़ अल्पसंख्यक तबके के बीच असुरक्षाबोध पैदा करके भयदोहन करती हैं तो बहुसंख्यक आबादी को ग़ैर ज़रूरी मुद्दों पर केन्द्रित करने की कोशिश करती मिलती हैं।

असल में बहुसंख्यक तबके के बीच उभरती कट्टरपन्थी ताकतें ठहरावग्रस्त पूँजीवादी मशीनरी के नासूर हैं जो आम जन के पिछड़े मूल्य मान्यताओं को उभारने और व्यवस्थाजन्य मुद्दों से किनाराकशी करके लोगों को दिग्भ्रमित करने का काम करती है। एक तरह से ये मौजूदा लूटखोर व्यवस्था की पाली-पोसी काली ताकतें हैं जिनका इस्तेमाल अपने संकटों से फौरी राहत पाने के लिए ये करती रहती हैं। चूँकि मुनाफ़े पर टिकी यह मशीनरी लगातार मुनाफ़े की हवस में बेरोज़गारी-भुखमरी पैदा करती रहती हैं। ज्यों-ज्यों पूँजी संकेन्द्रित होती जाती है व्यापक आबादी का कंगालीकरण बढ़ता जाता है। अब व्यापक आबादी अपने बुनियादी हकों को लेकर अपने सहयोगी वर्गों के साथ इस व्यवस्था को ही कटघरे में खड़ी करे, अपने तकलीफों के कारणों को जानने की कोशिश करें। यह चीज़ व्यवस्था के लिए ख़तरनाक हो सकती है – या यूँ कहें कि यह व्यवस्था व्यापक जन की आत्मिक-भौतिक ज़रूरतों को पूरा कर पाने में अक्षम है। अपनी अक्षमता को ढाँकने-पोतने के लिए भी इन काली ताकतों का सिस्टम समय-बा-समय इस्तेमाल करता है।

अब ज़रा इसी ख़ुर्दबीन से हिन्दूवादी संगठनों और उनकी चुनावी पार्टी भाजपा के बारे में विचार किया जाये तो कुछ बातें बेहद स्पष्ट नज़र आने लगती हैं। भाजपा शासित अन्य प्रदेश इस समय अपने एजेण्डे की प्रयोग स्थली बनाये हुए हैं। खासकर गुजरात की मोदी सरकार उसकी असलियत तो जगजाहिर ही है। दूसरी प्रयोगभूमि मध्यप्रदेश की शिवराज सिंह चौहान की सरकार है। ये बच्चों को बचपन से 'गीता पाठ' और सूर्य नमस्कार सिखाते-पढ़ाते सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की शिक्षा देने में लगे हैं, वहीं इसी प्रदेश में सरकारी नीतियों के शिकार डेढ़ दशक में करीब 16,000 किसानों ने कर्ज़ में डूबकर मौत को गले लगा लिया। घोटाले व भ्रष्टाचार में आकण्ट डूबी सरकार पापमोचन हेतु यज्ञ और उपवास की नौटंकी करती नज़र आती है।

अगर हम कर्नाटक की बात करें तो यहाँ हिन्दूवादी ताकतें अपनी खोयी ज़मीन को वापस पाने की जद्दोज़हद में लगे हैं। कर्नाटक के पूर्व लोकायुक्त सन्तोष हेगड़े की रिपोर्ट के बाद येदियुरप्पा को अपना मुख्यमन्त्री पद त्यागना पड़ा। जबकि रेड्डी बन्धु खनन मामले में हुए घोटाले में डूबकर अपनी पर्याप्त थुक्का-फ़जीहत करवा चुके हैं। ऐसे में खिसकता जनाधार संघ परिवार को सता रहा है। उन्हें लगता है गर ऐसे ही हालात रहे तो आगामी विधानसभा चुनाव में उनकी पार्टी वोटों की बाज़ाग़री में पिछड़ जायेगी। हो न हो उनके लग्गू-भग्गू संगठन दंगों की बिसात पर वोटों की फसल काटने के लिए तरह-तरह की योजना बनाने में मुब्तिला हैं। सिन्दगी में तहसीलदार के कार्यालय पर पाकिस्तानी झण्डा फहराना तो महज़ एक नमूना भर है।

“आनर किलिंग”: सम्मान के नाम पर हत्या या सम्मान के साथ ना जीने देने का जुनून

● नमिता

पिछले कुछ सालों से भारत के प्रिण्ट तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में “ऑनर किलिंग” की चर्चा होती रही है और यह चर्चा आज भी जारी है। मीडिया में कभी-कभी तो इस मुद्दे पर जोर-शोर से चर्चा होती है और कभी मद्धिम स्वर में। लेकिन मीडिया की सुर्खियों से दूर सम्मान के नाम पर नौजवान लड़के-लड़कियों की हत्याओं का सिलसिला बदस्तूर जारी है। सम्मान के नाम पर होने वाली सभी हत्याएँ तो मीडिया की सुर्खियों में आती भी नहीं। बहुत सारी हत्याएँ तो आत्महत्या या दुर्घटनाएँ बताकर ही दबा दी जाती हैं। “आनर किलिंग”, जैसा कि नाम से ही जाहिर है सम्मान के लिए किसी की हत्या। “सम्मान” के नाम पर हर साल भारत में लगभग 1 हजार युवाओं (यह आँकड़ा तो सरकारी है पर असल संख्या इससे कहीं अधिक है।) की हत्या की जाती है। इन युवाओं का “गुनाह” सिर्फ इतना ही होता है कि वे अपना जीवन साथी अपनी पसन्द से चुनने की जुर्रत करते हैं। लेकिन प्रतिक्रियावादियों, सामाजिक नैतिकता के तथाकथित ठेकेदारों को इतना भी मंजूर नहीं है।

यह सिर्फ हमारे देश में ही नहीं होता बल्कि किसी ना किसी रूप में यह दुनिया के कई देशों में होता है। कई देशों में सम्मान के नाम पर होने वाली हत्याओं में अधिकतर स्त्रियों को निशाना बनाया जाता है। ‘विकीपीडिया’ के मुताबिक अल्बानिया, बांग्लादेश, जर्मनी, भारत, ईरान, इराक, इजराइल, जार्डन, इटली, मोरक्को, पाकिस्तान, तुर्की, युगाण्डा आदि देशों में सम्मान के नाम पर हत्याएँ की जाती हैं। अमेरिका, कनाडा, डेनमार्क, जर्मनी, इटली, स्वीडन आदि ऐसे देश हैं, जिनके विशिष्ट ऐतिहासिक विकास के चलते यहाँ के सामाजिक ताने-बाने में जनवादी मूल्य-मान्यताएँ तुलनात्मक रूप से ज्यादा गहरी रची-बसी हैं और शक्तिशाली स्त्री आन्दोलन के चलते स्त्रियों ने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में निर्णय लेने के अधिकार को लड़कर हासिल किया है। वहाँ किसी भी नागरिक की निजता और व्यक्तिगत आज़ादी का दूसरे नागरिक सम्मान करते हैं। युवाओं के प्रेम और शादी से सम्बन्धित फैसलों को वहाँ के समाजों में खुशी-खुशी स्वीकार किया जाता है। युवाओं के प्रेम और शादी के मामलों में तीसरे व्यक्ति का दखल पूरी तरह खत्म हो चुका है। ‘अरेंज्ड मैरिज’ की परम्परा बहुत पहले ही वहाँ इतिहास के कूड़ेदान में पहुँच चुकी है। इस समय इन देशों में “आनर किलिंग” के मामले उन्हीं लोगों में सामने आ रहे हैं जो पिछड़े देशों खासकर एशियाई देशों से आकर यहाँ बस गये हैं।

आइए अब “ऑनर किलिंग” की इस व्यापक परिघटना

पर एक निगाह डालें। न्यूयार्क टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार, 1991 में इराकी कुर्दिस्तान में 12,000 से भी अधिक स्त्रियों की सम्मान के नाम पर हत्या की गई। ब्रिटेन में हर साल 17 हजार से भी अधिक स्त्रियाँ इस तथाकथित सम्मान के लिए हिंसा का शिकार बनती हैं, जिसमें कई बार हत्या भी शामिल होती है। बी.बी.सी. की 2005 की रिपोर्ट के अनुसार पाकिस्तान में चार हजार से भी अधिक स्त्रियाँ “ऑनर किलिंग” का शिकार हुईं, जहाँ इसे ‘कारो-कारी’ के नाम से जाना जाता है।

एक महिला के “ऑनर किलिंग” के शिकार होने का कारण सिर्फ प्रेम ही नहीं बल्कि कई अन्य कारण “सम्मान” की खातिर किसी की जान लेने के हकदार हो जाते हैं, खासतौर पर स्त्रियों की। जैसे अगर स्त्री पति से तंग आकर तलाक चाहती है या किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध रखती है, आदि। बहुत सारे मामलों में तो सिर्फ शक के आधार पर ही उनकी हत्या को जायज़ माना जाता है। उदाहरण के लिए जार्डन में 2007 में एक 17 साल की लड़की को सिर्फ इसलिए मार दिया गया क्योंकि कातिलों को शक था कि उसका किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध है।

“सम्मान” के नाम पर हत्या का तरीका इतना धिनौना और भयंकर होता है जैसा कि जानवरों के साथ भी नहीं किया जाता होगा। “दोषियों” को पत्थर मारकर, गला दबाकर, गोली मारकर और ज़िन्दा जलाकर ये हत्यारे अपने “सम्मान” की रक्षा करते हैं। आमतौर पर स्त्रियों को इतना ज्यादा परेशान किया जाता है कि वे खुदकुशी करने को मजबूर हो जाती हैं।

हालाँकि इसके खिलाफ भी कई कानून बने हैं, जो अन्य कानूनों की ही तरह फाइलों की धूल चाट रहे हैं जिन पर कोई अमल नहीं होता। कई देशों में तो ऐसे भी कानून हैं जो “सम्मान” के लिए की जाने वाली हत्याओं को जायज़ ठहराते हैं और कातिलों को ऐसा करने की खुली छूट देते हैं।

पाकिस्तान में “ऑनर किलिंग” के लिए सज़ा है पर अमल में पुलिस और कोर्ट इसका खुलेआम उल्लंघन करते हैं। अगर कातिल यह दावा कर दे कि उसने यह करतूत “सम्मान” के लिए की है तो वह दोषमुक्त हो जाता है। ज़्यादातर कानून ऐसे हैं जो पीड़ितों की मदद ना करके कातिलों की रक्षा करते हैं।

पाकिस्तान में ज़िया उल-हक के शासन के दौरान बने कानून के अनुसार कातिल पीड़ित के रिश्तेदारों को कुछ मुआवजा देकर आराम से बरी हो सकते हैं। यह कानून आज भी पाकिस्तान में ‘कारो-कारी’ को खुलेआम बढ़ावा दे रहा है। ज़्यादातर मामलों में तो कातिल पीड़ित का करीबी रिश्तेदार ही

होता है, इसलिए उसे माफी के लिए बिना कोई मुआवजा दिये मुक्ति मिल जाती है।

जार्डन के वर्तमान कानून 'पैनाल कोड 340' के मुताबिक, जिसे अपनी पत्नी या स्त्री रिश्तेदार के "नाजायज़" सम्बन्धों का पता लग गया है वह उसे मार सकता है या जख्मी कर सकता है और बिना किसी सज़ा के खुलेआम घूम सकता है। सीरियाई कानून के मुताबिक भी अगर किसी की पत्नी, बहन या स्त्री रिश्तेदार के किसी अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध हों तो वह उसकी हत्या करने का हक़दार है। इन सभी देशों का कानून पुरुषों को परिवार के "सम्मान" के नाम पर महिलाओं की हत्या करने का साहस देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन अमानवीय हत्याओं को कानूनी संरक्षण मिला हुआ है। यदि किसी भी रिश्ते में कोई एक साज़ीदार वफ़ादार न हो तो दूसरे साज़ीदार को उसे छोड़ने का हक़ नैसर्गिक तौर पर प्राप्त है। लेकिन वफ़ाई-बेवफ़ाई के आधार पर कोई किसी की जान ले, यह असभ्य समाज की ही निशानी हो सकती है।

जो समाज अपनी युवा पीढ़ी को अपनी जिन्दगी के बारे में फ़ैसले लेने की इजाज़त नहीं देता, जहाँ परिवारों में पुरानी पीढ़ी और पुरुषों की निरंकुश सत्ता आज भी कायम है, जिस समाज में रुढ़ियों, परम्पराओं के मजबूत बन्धन आज भी कायम है वह समाज पूँजीवाद के हर तरह के अन्याय को स्वीकारने के लिए अभिशप्त है।

दरअसल "सम्मान" के नाम पर हत्याओं की यह अमानवीय परिघटना उन्हीं देशों में अधिक है जहाँ बिना किसी जनवादी क्रान्ति के, धीमे सुधारों की क्रमिक प्रक्रिया के जरिये पूँजीवादी विकास हुआ है। इन देशों में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध तो कायम हुए हैं, लेकिन यह पूँजीवाद यूरोपीय देशों की तरह यहाँ जनवादी मूल्य लेकर नहीं आया। सामाजिक-सांस्कृतिक धरातल पर आज भी यहाँ सामन्ती मूल्यों की जकड़ बेहद मजबूत है। इन देशों (भारत भी इनमें से एक है) के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में गैरजनवादी मूल्य गहरे रचे-बसे हैं। इसी कारण यहाँ व्यक्तिगत आज़ादी और निजता जैसी अवधारणाओं के लिए कोई जगह नहीं है। व्यक्ति के जीवन के हर फ़ैसले में समाज दखल देता है चाहे वह प्रेम का सवाल हो, शादी का, रोजगार का या कोई अन्य।

इस समस्या का हल वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन के साथ जुड़ा हुआ है। निश्चित तौर पर हमें पूँजीवाद के अन्त का इन्तज़ार नहीं करना होगा और अभी से ही ज़बर्दस्त सांस्कृतिक प्रचार और स्त्रियों की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष के जरिये इन धिनौनी प्रवृत्तियों के खिलाफ़ संघर्ष करना होगा। लेकिन यह भी तय है कि इन समस्याओं का टिकाऊ समाधान एक ऐसे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में ही सम्भव है जो हर प्रकार से मनुष्यों के बीच शोषण और उत्पीड़न के सम्बन्धों को असम्भव बना दे।

छात्रों-युवाओं के लिए राहुल फाउण्डेशन की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें नौजवानों के लिए विशेष

1. नौजवानों से दो बातें	पीटर क्रोपोटकिन	5.00
2. क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा	भगतसिंह	5.00
3. मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका	भगतसिंह	5.00
4. बम का दर्शन और अदालत में बयान	भगतसिंह	5.00
5. जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो	भगतसिंह	5.00
6. भगतसिंह ने कहा...(चुने हुए उद्धरण)	भगतसिंह	5.00

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

1. भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़	स. सत्यम	200.00
2. शहीदेआज़म की जेल नोटबुक	भगतसिंह	65.00
3. विचारों की सान पर	भगतसिंह	25.00

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

फ़ोन: 0522-2786782, ईमेल: janchetna@rediffmail.com

मसौदा राष्ट्रीय औषध मूल्य निर्धारण नीति-2011

दवा कम्पनियों के मुनाफे के लिए इंसानी जिन्दगी से धिनौने खिलवाड़ का मसौदा

● प्रशान्त

किसी भी देश के नागरिकों तक जीवन-रक्षक व अत्यावश्यक दवाओं की सहज व सस्ती उपलब्धता को सुनिश्चित करना हरेक राज्य के सबसे महत्वपूर्ण दायित्वों में से एक है। एक स्वस्थ इंसानी जिन्दगी के लिए अनिवार्य होने के कारण यह देश की जनता का एक प्रमुख जनवादी अधिकार व मानवाधिकार भी है। लेकिन जो राज्य लोगों की सबसे बुनियादी जरूरतों - भरपेट भोजन, कपड़े और

वाली अपनी इस नीति को लागू करना चाहती है। एन.पी.पी.पी.-2011 पर चर्चा से पहले आइए एक बार आजाद भारत में दवाओं के मूल्य निर्धारण के इतिहास पर एक नज़र डाल लेते हैं।

दवाओं के मूल्य नियन्त्रण की कवायद सबसे पहले 1962 में औषध मूल्य प्रदर्शन आदेश और 1963 औषध मूल्य नियंत्रण आदेश (Drug Price Control Order; DPCO) के द्वारा शुरू की गयी।

तालिका-1

डी.पी.सी.ओ. वर्ष	मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत दवाओं की संख्या	मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत आने वाली श्रेणियों का बाज़ार में हिस्सा (लगभग)	मुनाफ़े की स्वीकृत सीमा
1979	347	80-90 प्रतिशत	तीन श्रेणियों जीवन-रक्षक, अत्यावश्यक, गैर-अनिवार्य में क्रमशः 40,50 व 100 प्रतिशत
1987	142	60-70 प्रतिशत	पहली श्रेणी में 75 प्रतिशत दूसरी व तीसरी में 100 प्रतिशत
1994	74	25-30 प्रतिशत	सभी में 100 प्रतिशत

लेकिन व्यापक औषध मूल्य नियंत्रण नीति का निर्माण 1979 में किया गया। इसके तहत 347 दवाओं को मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत लिया गया। लेकिन धीरे धीरे नेहरू के समाजवादी मुखौटे वाले पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद की हवा निकलने के साथ ही दवाओं के क्षेत्र में भी बाज़ार का प्रभाव बढ़ता गया। 1987 व 1994 में डी. पी. सी. ओ.-1979 में किए

सिर के ऊपर छत - को भी पूरा न करता हो उससे बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं के सस्ती दरों पर उपलब्ध कराए जाने का भ्रम पालना ही एक नादानी भरी सोच है। खासकर नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के इस दौर में जबकि देश की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की पूँजी के आधुनिक गुलामों और मुनाफ़ा निचोड़ने के लिए इस्तेमाल होने वाले यंत्रों से अधिक कोई कीमत न हो तो केवल पूँजीवादी राज्य से केवल यहीं उम्मीद की जा सकती है कि वह एक एक करके स्वास्थ्य सुविधाओं, दवा-इलाज आदि को मुनाफ़े की हवस में अंधे पूँजीपतियों और उनके जंगल (बाज़ार) को सौंपता जाए। राष्ट्रीय औषध मूल्य निर्धारण नीति-2011 का मसौदा इसी दिशा में उठाया एक धूर्ततापूर्ण कदम है। धूर्ततापूर्ण इसलिए क्योंकि इसके द्वारा राज्य राष्ट्रीय अत्यावश्यक औषध सूची-2011 (एन. एल. ई. एम.-2011) में शामिल सभी 348 दवाओं को मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत लाने के आवरण में सरकार दवा क्षेत्र में लगे पूँजीपतियों के मुनाफे को बढ़ाने

गए संशोधनों द्वारा अधिकांश दवाओं को मूल्य नियन्त्रण के दायरे के बाहर कर दिया गया (देखें तालिका-1)।

दवाओं को मूल्य नियन्त्रण के बाहर किए जाने की इसी प्रक्रिया की क्रमिकता में ही वर्ष 2002 में तत्कालीन राजग सरकार द्वारा एक नयी एन.पी.पी.पी. प्रस्तुत की गयी। इसके द्वारा मूल्य नियन्त्रण की जद में आने वाली दवाओं की संख्या 74 से घटाकर 35 से भी कम कर देने की योजना थी। लेकिन इस नीति के खिलाफ कुछ सुधारवादी संगठनों द्वारा कर्नाटका उच्च न्यायालय में जनहित याचिका दायर की गयी। जिस पर सुनवाई करते हुए कर्नाटका उच्च न्यायालय ने एन.पी.पी.पी.-2002 के अमल पर रोक लगा दी। कर्नाटका हाई कोर्ट के इस निर्णय के खिलाफ 2003 में सरकार ने देश के सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा घटघटाया जहाँ उसको अपने मनमुआफ़िक निर्देश मिल गया। सर्वोच्च न्यायालय ने कर्नाटका उच्च न्यायालय के फैसले पर रद्द करते हुए सरकार को 2 मई 2003 से पहले

अत्यावश्यक और जीवन-रक्षक दवाओं को मूल्य नियन्त्रण की सीमा से बाहर होने से बचाने के लिए दवाओं की अनिवार्यता का उपयुक्त पैमाना सूत्रीकृत करने का निर्देश दिया। इसके साथ ही अत्यावश्यक और जीवन-रक्षक दवाओं की पुनः समीक्षा करने का भी निर्देश दिया गया। सरकार के लिए ऐसे निर्देशों का पालन करना बहुत आसान काम था। पहले तो सर्वोच्च न्यायालय के इन निर्देशों के अनुसार कुछ कमेटियों का निर्माण किया गया; इन कमेटियों द्वारा 2005 में दी गयी रिपोर्ट के आधार पर मूल्य निर्धारण मामले के समाधान के लिए दो 'ग्रुप ऑफ़ मिनिस्टर्स' का निर्माण किया गया लेकिन हर दूसरे मामले की तरह इसमें भी वहीं ढाक के तीन पात वाली पुरानी कहानी ही दोहराई गयी और 7 सालों में इस समस्या का कोई समाधान नहीं निकाला जा सका।

इस बीच दवाओं और स्वास्थ्य सुविधाओं का मुनाफ़े के एक बड़े स्रोत के रूप में निजी कम्पनियों द्वारा इस्तेमाल बड़े पैमाने पर होने लगा; दवाओं के दाम लगातार बढ़ते गये, सरकारी अस्पतालों की डिस्पेन्सरी से मिलने वाली दवाओं की संख्या लगातार कम होती गयी; एक ही दवा के दसियों ब्राण्ड बाजार में आ गए जिनके दामों में एक दूसरे से बहुत अन्तर होता है। इस प्रकार दवा बाजार में आज भयानक अराजकता व्याप्त है और डॉक्टरों व केमिस्टों तथा नेताओं-मंत्रियों-नौकरशाहों से साँठ-गाँठ करके बाजार की बड़ी कम्पनियाँ दवाओं के दाम को मनमुआफ़िक बढ़ाती रहती हैं। इन सरकारी नीतियों का परिणाम आज हमारे सामने है। दिन-ब-दिन दरिद्र होती देश की आम मेहनतकश आबादी के लिए साधारण दवा-इलाज तक कराना भी अब असम्भव हो चला है। देश में आज कुल बीमार आबादी का 1/5 का कोई उपचार नहीं होता है। देश में हर साल 2-4% लोग दवा-इलाज पर होने वाले खर्च के कारण गरीबी रेखा (भुखमरी रेखा) के नीचे चले जाते हैं। देश में आज भी डायरिया, हैजा, बुखार जैसी साधारण बिमारियों से लोगों की मौत होती रहती है। ऐसे में देश की जनता के साथ किए जा रहे इस घोर अन्याय व शोषण को और शांति रूप से जारी रखने के उद्देश्य से ही वर्तमान एन.पी.पी.-2011 का मसौदा तैयार किया गया है। आइए अब इस मसौदे पर नज़र डालते हैं।

एन.पी.पी.-2011 के मसौदे की शुरुआत एक बहुत ही जन पक्षधर दिखने वाले प्रस्ताव से होती है। मसौदे में राष्ट्रीय अत्यावश्यक औषध सूची-2011 में शामिल सभी 348 दवाओं को मूल्य नियन्त्रण के दायरे के अंतर्गत लेने को कहा गया है। इसके साथ ही दवाओं को किसी कम्पनी के मार्केट शेयर व अन्य बाजार आधारित आधारों पर नहीं बल्कि दवाओं की अनिवार्यता के आधार पर मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत लेने की बात कही गयी है। लेकिन ये प्रस्ताव तो केवल हाथी के दिखाने के दाँत हैं और ऊपरी सजावट के तौर पर शामिल किए गए हैं। और हाँ, इससे देश के सर्वोच्च न्यायालय को सन्तुष्टि भी जरूर मिल गयी होगी क्योंकि उसके निर्देशों का सरकार ने पालन जो किया है। लेकिन थोड़ा ही आगे पढ़ने पर जल्दी ही इस मसौदे का जनद्रोही चरित्र सामने आ जाता है जब मसौदे में दवाओं के मूल्य नियन्त्रण के लिए निम्न दो सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते हैं:

- 1) केवल अंतिम उत्पादों (फॉर्मूलेशन्स) के मूल्यों का विनियमन
- 2) मूल्य निर्धारण के लिए बाजार-आधारित मूल्य निर्धारण पद्धति का प्रयोग

अभी तक दवाओं के मूल्य दो स्तरों पर विनियमित किए जाते रहे हैं। पहले स्तर पर दवाओं के उत्पादन के लिए प्रयुक्त होने वाले

कच्चे मालों या 'बल्क ड्रग' के उत्पादन के मूल्य पर नियन्त्रण लगाया जाता है। इसमें कच्चे माल के विक्रय पर होने वाले मुनाफे को उत्पादन लागत की एक निश्चित दर पर फिक्स कर दिया जाता है। दूसरे स्तर पर फॉर्मूलेशन्स या अन्तिम उत्पादों के मूल्य को विनियमित किया जाता है। इसके लिए फॉर्मूलेशन्स के उत्पादन लागत की गणना की जाती है और उत्पादन पश्चात होने वाले खर्च पर एक ऊपरी सीमा तय कर दवाओं के मूल्य का निर्धारण किया जाता है। उत्पादन पश्चात होने वाले खर्चों में कम्पनी का मुनाफ़ा भी शामिल होता है जो 1995 डी.पी.सी.ओ. के अनुसार 100% तय किया गया थी। इस प्रकार यदि किसी दवा की उत्पादन लागत 1 रु है तो उसका अधिकतम बाजार मूल्य 2 रु हो सकता है। लेकिन वर्तमान मसौदे में 'बल्क ड्रग' के विनियमन को समाप्त करने के पीछे सरकार यह तर्क देती है कि कम्पनियाँ मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत आने वाले 'बल्क ड्रग' का इस्तेमाल न करके मूल्य नियन्त्रण के बाहर आने वाले 'बल्क ड्रग' का इस्तेमाल करती हैं। इसकी वजह से 'बल्क ड्रग्स' के किसी मिश्रण द्वारा निर्मित होने वाले फॉर्मूलेशन के उत्पादन और फलस्वरूप बाजार में उस फॉर्मूलेशन की उपलब्धता पर बहुत बुरा असर पड़ता है। लेकिन ये तर्क सरासर गलत हैं। क्योंकि बल्क ड्रग्स सीधे उपभोक्ताओं को नहीं बल्कि फॉर्मूलेशन्स के उत्पादकों को बेचे जाते हैं और इसलिए इनके विक्रय द्वारा होने वाले मुनाफे को बढ़ाना उस प्रकार के जोड़-तोड़ द्वारा सम्भव नहीं है जैसा की डॉक्टरों और केमिस्टों के साथ साँठ-गाँठ करके उपभोक्ताओं को बेचे जाने वाले फॉर्मूलेशन्स के साथ सम्भव है। बल्कि इस मामले में तो बाजार प्रतियोगिता 'बल्क ड्रग्स' के मूल्य को नियन्त्रित रखती हैं। उल्टे इस प्रावधान के लागू होने पर कम्पनियाँ अत्यावश्यक 'बल्क ड्रग्स' से असारभूत (Non-essential) फॉर्मूलेशन्स का निर्माण करने को प्रेरित होंगी क्योंकि वे फॉर्मूलेशन्स मूल्य नियन्त्रण के बाहर होंगे यदि उनके बुनियादी संघटक अवयवों में एक भी एन.एल.ई.एम.-2011 में जारी सूची के बाहर आता है। आज ही देश के दवा बाजार में ऐसे अतार्किक गैर जरूरी फॉर्मूलेशन्स की भरमार है और ये प्रावधान इस संकटग्रस्त स्थिति को और अधिक बदतर ही बनाएगा।

अब जरा दूसरे प्रावधान पर नज़र डालते हैं जो बाजार-आधारित मूल्य निर्धारण पद्धति की बात करता है। इस प्रावधान के अनुसार किसी फॉर्मूलेशन्स का मूल्य एक ऊपरी सीमा द्वारा नियन्त्रित किया जाएगा जो उस फॉर्मूलेशन का उत्पादन करने वाले बाजार हैसियत के हिसाब से सबसे ऊपर के तीन ब्राण्ड्स के भारित औसत मूल्य द्वारा तय होगी। अगर देखा जाए तो अधिकांश दवाओं के मामले में बाजार हैसियत के हिसाब से ऊपर आने वाले ब्राण्ड्स के उत्पादों की कीमत सबसे ज्यादा होती है। इस प्रकार अपने इस मसौदे द्वारा सरकार बड़ी दवा कम्पनियों के सामने पूरी तरह से शीश नवा दिए हैं। इसको एक उदाहरण के द्वारा समझते हैं। ऐमेरिल एक एण्टी-डायबेटिक्स दवा है। इस दवा के ऊपर के तीन ब्राण्ड्स का औसत 59.3 रु. है जबकि नीचे के तीन ब्राण्ड्स का औसत 10.8 रु. है। ऐसे में सरकार द्वारा प्रस्तुत वर्तमान मसौदे के अनुसार ऐमेरिल के बाजार मूल्य की ऊपरी सीमा 59.3 रु. होगी। ऐसे में इस दवा का उत्पादन करने वाला कोई मूरख ही होगा जो अपने दामों को 59.3 रु. से कम रखेगा। अर्थात् बाजार प्रतियोगिता दामों को कम करने की अपेक्षा दामों को बढ़ाएगी!! देश के महान अर्थशास्त्री

(पेज 24 पर जारी)

विकास करता भारत! मगर किसका??

● नवीन

न्यूज़ चैनलों व अखबारों में प्रायः कुछ शब्द और वाक्य ज़रूर देखने-सुनने को मिलते हैं जैसे कि- 'विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश भारत', 'तेज़ रफ़्तार से विकास करता भारत', 'अतुल्य भारत', 'भारत में है विश्वास', मेरा भारत महान', 'सब पढ़ें, सब बढ़ें', 'जागो ग्राहक जागो', 'पहले हम रोज़गार को ढूँढते थे अब रोज़गार हमें ढूँढता है', आदि। इस तरह के नारों को पुष्ट करने के लिए तर्क भी दिया जाता है और जनमानस में एक भ्रम की स्थिति बरकरार रहती है।

अभी हाल में ही भारत सरकार ने बताया की भारत की प्रति व्यक्ति सालाना आय में 15.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अब प्रति व्यक्ति आय 46,117 रुपये से बढ़कर 53,331 रुपये हो गयी है। भारत सरकार इसे विकासमान भारत के रूप में पेश कर रही है। सरकार की गोद में बैठकर पत्रकारिता करने वाले बुद्धिजीवियों के लिए "विकास" को पुष्ट करने वाले ऐसे नये आँकड़े मिलना बहुत अच्छी बात हो सकती है तथा सिविल सर्विस या अन्य प्रतियोगिताओं की तैयारी करने वाले छात्रों के लिए भी यह नम्बर प्राप्त करने के लिए एक अच्छी जानकारी हो सकती है। खाते-पीते मध्यवर्ग के कानों तक जब विकास की बात आती है तो उसकी आँखों के सामने चमकता मेट्रो, शेयर बाज़ार की बिल्डिंग, बड़े-बड़े मॉल, कम्प्यूटर पर काम करते उच्च वेतन प्राप्त करने वाले मध्यवर्गीय युवक, ताजमहल की सैर, कार में मुस्कराता परिवार और एवरेस्ट पर फहराता तिरंगा जैसी तस्वीरें आती हैं।

अब आइये थोड़ा इसकी तह में जाकर पता लगाते हैं कि प्रतिव्यक्ति आय की गणना कैसे की जाती है? एक उदाहरण लेते हैं समझना आसान होगा। मान लीजिए 20 लोग कुम्भकरण की सेवा में लगे हुए हैं, एक व्यक्ति एक समय में 5 रोटी खाता हो और कुम्भकरण एक समय में 1000 रोटी खाता है। अगर हम इस हिसाब से कुम्भकरण और उसके यहाँ काम करने वाले सभी लोगों का एक समय की रोटी की खपत का औसत निकालें तो 52 रोटी से ज़्यादा पड़ेगा। अगर आपको यह बताया जाय कि कुम्भकरण के यहाँ प्रतिव्यक्ति रोटी की खपत एक समय में 50 है तो आप हर्ष-मिश्रित आश्चर्य में पड़ जाएँगे! भारत सरकार का आँकड़ा भी हूबहू ऐसा ही है। जिस भारत में एक तरफ प्रति मिनट 2 करोड़ रुपये कमाने वाले लोग हों और दूसरी तरफ 84 करोड़ लोग 20 रुपये रोज़ाना पर गुज़र-बसर करते हों तो दोनों को मिलाकर एक औसत आय निकालना बेईमानी है। असल में आय में वृद्धि ऊपर की 10 प्रतिशत आबादी की ही हो रही है नीचे की 90 प्रतिशत आबादी तो नर्क की जिन्दगी बिता रही है। 'अतुल्य भारत' की सच्चाई यह है कि एक तिहाई आबादी भूखे पेट सोती है और मनमोहन सरकार के मन्त्रीमण्डल में 77 प्रतिशत मन्त्री करोड़पति हैं! जिन सांसदों ने अपने को करोड़पति नहीं बताया उनकी असलियत उस क्षेत्र की जनता से छुपी नहीं है। जिन मन्त्रियों ने अपनी सम्पत्ति का ब्योरा दिया है जरा उसे भी देखें। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के पास 5 करोड़ की सम्पदा है जिसमें कुछ

फ्लैट हैं, एक 1996 मॉडल की मारुती 800 कार और 15 हजार नकद; इनके पास कोई ज़मीन नहीं है! कृषि मंत्री शरद पवार, जो बीसीसीआई के अध्यक्ष भी हैं, के पास 3.46 करोड़ की सम्पदा है और इनके पास अपनी कार नहीं है! चिदम्बरम के पास कुल सम्पदा 11.16 करोड़ रुपये की है तो मानव संसाधन मंत्री कपिल सिब्बल के पास करीब 35 करोड़ की चल-अचल सम्पत्ति है। हालाँकि सम्पत्ति की इन घोषणाओं धोखाधड़ी और बेईमानी ही अधिक है, लेकिन इनसे भी "अतुलनीय भारत" की सच्चाई उजागर हो जाती है!

'अतुल्य' इसलिए क्योंकि जनता और पूँजीपतियों और उनकी चाकरी करने वाले नेता-मन्त्रियों में कोई तुलना नहीं है! और 'महान' इसलिए कि भुखमरी के शिकार लोगों के देश में नेता-मन्त्री करोड़पति हैं! शिक्षा व्यवस्था ऐसी है कि आम आदमी के लिए उच्चशिक्षा आकाश-कुसुम की अभिलाषा के समान है। बारहवीं पास करने वाले सारे बच्चों में से केवल 7 प्रतिशत उच्च शिक्षा तक पहुँच पाते हैं। बड़े घर के बच्चे ही ऊँचे पद और ऊँची शिक्षा पा रहे हैं। 84 करोड़ ग्राहक जो 20 रुपये प्रति दिन की आय पर जीते हैं उसके लिए 'जागो ग्राहक जागो' नारे के बदले 'भागो ग्राहक भागो' होना चाहिए! सर्वशिक्षा अभियान के 'सब पढ़ें, सब बढ़ें' की जगह सही नारा होना चाहिए 'कुछ पढ़ें, कुछ बढ़ें और बाकी मरें'! मनरेगा के तहत जो रोज़गार की बात सरकार करती है वह सरासर मज़ाक है। मनरेगा वास्तव में गाँवों में मौजूद नौकरशाही के लिए कमाई करने का अच्छा ज़रिया है। इसकी सच्चाई लगभग सभी राज्यों में उजागर हो चुकी है। दरअसल सरकार और व्यवस्था की चाकरी करने वाले मीडिया के "विकास" का सारा शोरगुल इस व्यवस्था द्वारा पैदा आम जन के जीवन की तबाही और बरबादी को ढकने के लिए धूम्र-आवरण खड़ा करता है। विकास के इन कथनों के पीछे अधिकतम की बर्बादी अन्तर्निहित होती है।

इंसानी जिन्दगी से घिनौने खिलवाड़

का मसौदा

(पेज 23 से जारी)

प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह और उनकी सरकार को इस मसौदे के निर्माण के लिए पूँजीपतियों से भरपूर शाबाशी और चबाने के लिए हड्डियाँ मिली होंगी। आखिर उन्होंने इंसानी जिन्दगी से खिलवाड़ करने की कला में अपने आप को महारथी जो सिद्ध किया है!

यह नीति उन तमाम नीतियों में से एक है जो आने वाले समय पर पूँजी के हित में बनायी जाने वाली हैं। नवउदारवाद के वर्तमान दौर में एक पूँजीवादी राज्य यह करने को मजबूर है। साफ है यह व्यवस्था आज केवल मानवद्रोही ही नहीं रही है बल्कि आदमखोर का रूप धारण कर चुकी है और अब यह इसी तरह देश की गरीब मेहनतकशों का कतरा कतरा रक्त चूस कर ही जिन्दा रह सकती है।

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश

● जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर ● जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ ● जनचेतना स्टॉल, कॉफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8.00 तक) ● प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू वाराणसी ● Ramashankar Rajbhar WR-3èk17 Type-3, IInd Floor, Irrigation colony, Govindpur Allhabad ● विशाल विक्रम सिंह रूम नं-310 बिड़ला हॉस्टल-बी बीएचयू वाराणसी, ● कुँवर सन्दीप कुमार सिंह-कुसुमविला, कॉलेज रोड, मन्दिर लेन, उन्नाव ● जनचेतना, शास्त्री नगर, एम ब्लॉक, सामने तिकोना पार्क, मेन बागवाली कॉलोनी रोड, गाज़ियाबाद।
दिल्ली

● अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर ● पी.पी.एच., जे.एन.यू. ● गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. ● हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. ● सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनाॅट प्लेस, ● पी.पी. एच. बुकशॉप कनाॅट प्लेस, ● यू. स्पेशल : दि यूनिवर्सिटी बुकशॉप, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय।

बिहार

● देवाशीष बराट, द्वारा-आर.के.बनर्जी, गोकुल पथ, नाला पार, रोड सं. 2, उत्तरी पटेल नगर, पटना-800024 ● श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो. करनौल, जिला मुज़फ्फरपुर ● डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, 'शब्दसदन', सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर ● प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना ● श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच.-3/8, हाडसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, जिला-भोजपुर ● सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग, पटना ● रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर(बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, भाया-ईस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान

● चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर ● शैलेन्द्र चौहान द्वारा 34/242, से.-3, प्रताप नगर, जयपुर ● ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर।

हरियाणा

● डॉ. सुखदेव हुन्दल, ग्राम+पोस्ट सन्तनगर वाया जीवन नगर, सिरसा ● रमेश खटकड़, अमृता मेडिकोज, ओल्ड बस स्टैण्ड रोड, चोपड़ा पट्टी, नियर धोलाकुंआ, नरवाना, जिला-जीन्द।

महाराष्ट्र

● वी. पी. सिंह, बी-5, संकष्टि कोआपरेटिव हाडसिंग सोसायटी, हाजी मलंग रोड, चक्की नाका, कल्याण ● पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फोर्ट, मुम्बई ● खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर ● श्याम सोनार (प्रोग्रेसिव स्टूडेंट्स फोरम) 3/3, शुभकामना सोसायटी, लक्ष्मीपार्क, फेज़-2 के बाजू में पाड़ा नं-2, यशोधन नगर, ठाणे (पश्चिम) महाराष्ट्र ● गोपाल नायडू कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्टी, अजनी रोड, नागपुर ● शिरीष मेढी, डी-402, रवि इस्टेट ऑफ़ पोखरन रोड नं-1 ठाणे ● हर्ष ठाकोर, हरबंश, चतुर्थ तल, नूतन लक्ष्मी सोसायटी, 8th रोड, जूहू, विले पारले डेब्लपमेण्ट स्कीम, मुम्बई

पंजाब

● लखविन्दर, शहीद भगतसिंह पुस्तकालय 33, फुटा रोड, गली नं-5, लक्ष्मणनगर, गियासपुरा लुधियाना ● पंजाब बुक सेण्टर SLO-1126-27, सेक्टर-22 बी, चण्डीगढ़

मध्यप्रदेश

● संजय बुक स्टॉल, शाप नं. 43, ग्वालियर।

हिमाचल प्रदेश

● सुरेश सेन "निशान्त", गाँव सलाह, डाक. सुन्दरनगर-1, जिला-मण्डी।

उत्तराखण्ड

● संजय वर्मा, वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, पो.-सोमेश्वर, जिला-अल्मोड़ा ● राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, जिला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ ● 'दखल' द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नियर उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा ● अल्मोड़ा किताबघर द्वारा श्री शमशेर सिंह बिष्ट नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, मालरोड, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़ ● शम्भूदत्त पाण्डेय, डी 2-1/14ए मेट्रोपोलिस सिटी, रुद्रपुर, उधमसिंह नगर

जम्मू

● श्री पुरुषोत्तम लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, ● राहुल 139, नेहरू हास्टल, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

छत्तीसगढ़

● श्री देवाशुं पाल, सं. "पाठ" गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़।

इतने शर्मिदा क्यों हैं प्रो. एजाज़ अहमद?

● अभिनव

किसी भी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी की पहचान जिन बातों से होती है उनमें से एक यह है कि वह अपने विचारों को छिपाता नहीं है; और दूसरी अहम बात यह होती है कि वह अपने विचारों को लेकर शर्मिन्दा भी नहीं होता। इन कसौटियों को ध्यान में रखें तो आप प्रो. एजाज़ अहमद से यह सवाल पूछ सकते हैं कि आप अपने विचारों को लेकर इतने शर्मिदा क्यों हैं? आप यह भी पूछ सकते हैं कि आप इतने हताश क्यों हैं?

प्रो. अहमद ने एक प्रतिष्ठित अंग्रेज़ी पत्रिका 'फ्रण्टलाइन' में हाल ही में एक लेख लिखा जिसे आप वर्ष समीक्षा मान सकते हैं। इस लेख में प्रो. अहमद ने पिछले वर्ष, यानी कि 2011 में, दुनिया भर में हुए पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलनों पर अपने विचार रखे हैं। उन्होंने विशेषकर अरब जनउभार और 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन का विश्लेषण करते हुए, पूँजीवाद के कारगर विकल्प पर विचार किया है। ये विचार एक विस्तृत समीक्षा की माँग करते हैं।

अपने लेख की शुरुआत में वे कहते हैं कि 2011 की पहचान दो विरोधाभासी परिघटनाओं से होती है—पहला, विश्व पूँजीवाद का असाध्य संकट, जो कि 1930 के दशक के बाद सबसे गम्भीर रूप में प्रकट हुआ और दूसरा, विश्व के विभिन्न हिस्सों में पूँजीवाद, दमनकारी सत्ताओं और ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई और भ्रष्टाचार के खिलाफ़ हुए जनता के जुझारू आन्दोलन। **पहली बात तो यह कि इनमें कुछ भी विरोधाभासी नहीं है।** स्पष्ट है कि ये आन्दोलन पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प को तलाशने की बेचैनी और छटपटाहट की अभिव्यक्ति हैं। किसी नेतृत्वकारी क्रान्तिकारी शक्ति के अभाव में ये आन्दोलन अन्धी गलियों में भटक रहे हैं। लेकिन जहाँ तक पूँजीवाद के संकट और विरोध आन्दोलनों का सवाल है, उनमें कुछ भी विरोधाभासी नहीं है। उल्टे, वे वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वास्तव में, अगर ये आन्दोलन आज दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में स्वतःस्फूर्त रूप से खड़े हो रहे हैं, तो यह पूँजीवाद के अपने सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुँचने की ही एक अभिव्यक्ति है। बहरहाल, आगे प्रो. अहमद अपने लेख का मकसद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे आर्थिक संकट के बाद पैदा हुए इन आन्दोलनों की नियति का विश्लेषण करना चाहते हैं। तो आइये, इन आन्दोलनों की प्रो. अहमद की व्याख्या और उनके नतीजों की बात करें।

प्रो. अहमद कहते हैं कि वास्तव में यह वर्ष राजनीतिक तौर पर 2010 के अन्तिम दिनों में शुरू हुआ जब ट्यूनीशिया में पुलिस दमन और उत्पीड़न के खिलाफ़ सब्ज़ी का ठेला लगाने वाले एक स्नातक नौजवान ने आत्मदाह कर लिया। इस घटना ने ट्यूनीशिया में बेरोज़गारी और ग़रीबी और साथ ही महँगाई और भ्रष्टाचार के खिलाफ़ जनता के भीतर धधक रही नफ़रत को फूट कर बाहर निकल आने का एक मौका दिया। इसके बाद पूरे देश में सत्ता के दमनकारी और शोषणकारी चरित्र, बेन अली की भ्रष्ट बुर्जुआ सत्ता और नवउदारवाद के तोहफ़ों, यानी ग़रीबी, बेघरी, बेरोज़गारी और महँगाई के खिलाफ़ एक देशव्यापी आन्दोलन शुरू हो गया। इस आन्दोलन की परिणति ट्यूनीशिया में बेन अली की सत्ता के पतन के रूप में हुआ। इसके बाद पूरे अरब विश्व में ही एक भयंकर उथल-पुथल शुरू हो गयी। प्रो. अहमद आगे अपने लेख में इसके कारणों के बारे में बताते हुए अरब देशों के उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास का पुनरीक्षण करते हैं और बताते हैं कि नासरवादी और बाथवादी पार्टियों की सत्ताओं के राष्ट्रीय बुर्जुआ और साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र का किस तरह से पतन हुआ और किस तरह से इन देशों में नवउदारवाद की नीतियों के श्रीगणेश के बाद जनअसन्तोष बढ़ता गया। इज़रायल के विरुद्ध युद्ध में मिस्र की हार और जनरल नासर के बाद अनवर सादत की सत्ता के दौरान मिस्र का मध्य-पूर्व में अमेरिकी-इज़रायली धुरी का सहयोगी बनने के बाद, अरब देशों में बुर्जुआ सत्ता के पतन और अधिक से अधिक जनविरोधी बनते जाने का प्रो. अहमद एक विश्वस्नीय ब्यौरा देते हैं। प्रो. अहमद का यह कहना भी बिल्कुल सही है कि हालिया अरब जनउभार के पीछे सत्ता के दमनकारी और ग़ैर-जनवादी चरित्र के अलावा जो कारक एक व्यापक सन्दर्भ का काम कर रहे थे, वे वास्तव में नवउदारवादी नीतियों के कारण पैदा हुई सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ थीं। लेकिन इसके बाद, प्रो. अहमद अपनी निराशा को खोलकर सामने रखना शुरू करते हैं।

प्रो. अहमद निराशा प्रकट करते हुए कहते हैं कि इन सभी जुझारू जनान्दोलनों के बावजूद हर मामले में अन्त में कट्टरपंथी इस्लामिक ताकतें विजयी हुईं। ट्यूनीशिया के अपवाद को छोड़ दिया जाय, तो हर जगह विद्रोहों और सत्ताओं के पतन के बाद धार्मिक कट्टरपंथी और फासीवादी ताकतें चुनावों में जीतकर सत्ता में आयीं। मिस्र में चुनावों में इस्लामिक

कट्टरपंथियों की जीत हुई (मुस्लिम ब्रदरहुड और सलाफिस्ट गुट ने मिलकर बहुमत हासिल किया है); लीबिया में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के बाद जो सत्ता स्थापित हुई है वह भी धार्मिक कट्टरपंथी है; सीरिया में असद के विरोध में चल रहा जनान्दोलन वास्तविक मुद्दों पर खड़ा है, लेकिन वहाँ भी साम्राज्यवादी मदद के बूते पर धार्मिक कट्टरपंथी ताकतें अपनी जड़ें आन्दोलन के भीतर गहरी कर रही हैं। प्रो. अहमद वास्तविक मुद्दों पर खड़े हुए जनान्दोलनों के इन नतीजों पर काफी अचम्भित हैं। इसके कारण के तौर पर जो कारक वह बताते हैं, वह अजीबो-गरीब है। वह कहते हैं कि

इन आन्दोलनों की शुरुआत में सामाजिक-आर्थिक मुद्दे प्रमुखता के साथ मौजूद थे, जैसे कि नवउदारवादी नीतियाँ, महँगाई, खाद्य संकट, बेरोजगारी, गरीबी आदि; और सत्ता के दमनकारी, उत्पीड़नकारी, गैर-जनवादी होने और पुलिस और सेना द्वारा बर्बर और नग्न उत्पीड़न के राजनीतिक (?) मसले सामाजिक-आर्थिक मुद्दों के मातहत थे। लेकिन जैसे-जैसे ये आन्दोलन आगे बढ़े वैसे-वैसे इसमें उपरोक्त राजनीतिक मसले अधिक महत्वपूर्ण हो गये और ताज्जुब की बात यह है कि अमेरिकी शैली के जनतन्त्र और नागरिक स्वतन्त्रता

की चाहत की नुमाइन्दगी करने का काम धार्मिक कट्टरपंथी ताकतें करने लगीं। मजदूर आन्दोलन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन का पहलू इन प्रदर्शनों में पहले प्रमुखता के साथ मौजूद था, और वास्तव में इन विरोध आन्दोलनों का उत्स ट्रेड यूनियन आन्दोलन में ही देखा जा सकता है, लेकिन बाद में कुलीन और मध्यम वर्गीय युवाओं के जनवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की माँग पूरे आन्दोलन पर हावी हो गयी और साम्राज्यवाद की सहायता से, जिसने बदलते वक्त की नब्ज को पहचाना और दमनकारी और पतित बुर्जुआ सत्ताओं के सिर से अपना हाथ हटा लिया, धार्मिक कट्टरपंथी ताकतों ने इन आन्दोलनों को जनवाद, नागरिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आदि का हिमायती बनते हुए विनियोजित कर लिया।

यह पूरा विश्लेषण जितने सवालों का जवाब देता है, उससे अधिक सवालों को पैदा करता है। वास्तव में, यह विश्लेषण स्वयं एक अनसुलझा सवाल है। सोचने की बात यह है कि ये आन्दोलन मुख्य रूप से सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर केन्द्रित होने से राजनीतिक मुद्दों पर केन्द्रित कैसे हो गये (हालाँकि, प्रो. एजाज़ अहमद द्वारा 'राजनीतिक' शब्द का यह प्रयोग उनकी समझदारी के बारे में काफी-कुछ बताता है; कहने का अर्थ है कि संशोधनवाद पतित अर्थवाद की ही एक अभिव्यक्ति होता है और 'राजनीतिक' शब्द का यह भोंडा प्रयोग इस बात को साफ़ तौर पर दिखला रहा है।)? ऐसा क्या

हुआ कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन से पैदा होने के बाद ये व्यवस्था-विरोधी आन्दोलन इस्लामिक कट्टरपंथी ताकतों द्वारा विनियोजित कर लिये गये? इन सवालों का जवाब देना प्रो. अहमद ज़रूरी नहीं समझते! जाहिर है, कि इन सवालों का जवाब उनके विश्लेषण को बेहद असुविधाजनक दौराहे पर लाकर खड़ा कर देगा।

वास्तव में, प्रो. एजाज़ अहमद सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों के बीच जो दीवार खड़ी करने की कोशिश कर रहे हैं, वह दीवार इन आन्दोलनों में

“अगर हम अरब सत्ताओं के गैर-जनवादी और दमनकारी राजनीतिक चरित्र के कारणों और उत्स की तलाश सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और इतिहास में नहीं करते, तो हमें इन सत्ताओं के राजनीतिक चरित्र के कारणों की व्याख्या अलग-अलग व्यक्तिगत शासकों के निजी गुणों या अलग-अलग मजहबों की चारित्रिक विशिष्टताओं, या फिर अलग-अलग समाजों के गुणों के एसेशियलाइज़ेशन में करनी पड़ेगी, यानी हमें सैमुएल हण्टिंगटन के सभ्यताओं के टकराव की थीसिस पर जाना पड़ेगा!”

कभी मौजूद थी ही नहीं। इन आन्दोलनों में शुरू से ही पतित बुर्जुआ सत्ता के दमनकारी और उत्पीड़नकारी चरित्र और साथ ही नवउदारवादी नीतियों के फलस्वरूप पैदा हुई बेरोजगारी और गरीबी के मुद्दे नत्थी होकर आये थे। इन सत्ताओं को पुलिस राज्य जैसी स्थिति रखने की ज़रूरत ही काफी-कुछ इस वजह से पड़ती थी कि नवउदारवादी नीतियों को बेलाग-लपेट लागू किया जा सके; अरब देशों में गैर-जनवादी बुर्जुआ सत्ताओं के दमन के पीछे राजनीतिक, धार्मिक और व्यक्तिगत नागरिक स्वतन्त्रता को कुचलना इतना बड़ा कारण नहीं था, जितना

कि वाशिंगटन सहमति को खुल्लम-खुल्ला लागू करने की चाहत। मिस्र, ट्यूनीशिया, कुछ अलग अर्थों में लीबिया, सीरिया आदि जैसे देशों में मौजूद सत्ताधारी बुर्जुआ वर्ग इस बात से अच्छी तरह से वाकिफ़ था और अभी भी वाकिफ़ है कि अगर उसे नवउदारवाद की नीतियों को लागू करना है, तो जन प्रतिरोध को कुचलने के लिए उसे सत्ता के आतंक का एक माहौल बनाकर रखना होगा। अगर हम अरब सत्ताओं के गैर-जनवादी और दमनकारी राजनीतिक चरित्र के कारणों और उत्स की तलाश सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और इतिहास में नहीं करते, तो हमें इन सत्ताओं के राजनीतिक चरित्र के कारणों की व्याख्या अलग-अलग व्यक्तिगत शासकों के निजी गुणों या अलग-अलग मजहबों की चारित्रिक विशिष्टताओं, या फिर अलग-अलग समाजों के गुणों के एसेशियलाइज़ेशन में करनी पड़ेगी, यानी हमें सैमुएल हण्टिंगटन के सभ्यताओं के टकराव की थीसिस पर जाना पड़ेगा! ऐसी सूत्र में, प्रो. अहमद को मार्क्सवाद को एक विश्लेषण के उपकरण के तौर पर छोड़ देना चाहिए (कर्मों के मार्गदर्शक सिद्धान्त के तौर पर तो मार्क्सवाद उनके लिए कभी भी अहम नहीं था!), और उन्हें वेबर, दुखीम, आदि की शरण में चले जाना चाहिए! अरब जनउभार में सत्ता के दमनकारी चरित्र और पुलिस राज्य जैसी स्थिति के खिलाफ़ जनता का गुस्सा, भौतिक जीवन के स्तर के सवालों पर जनता के असन्तोष से अलग नहीं था। वह शुरू

से अन्त तक जुड़ा हुआ था। प्रो. अहमद मानते हैं कि वे अरब जनउभारों और उनके प्रतिक्रियावादी नतीजों के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या करने के कार्यभार को काफी मुश्किल पा रहे हैं।

कारण यह है कि प्रो. अहमद इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि जनविद्रोहों ने दो अरब देशों (मिस्र व ट्यूनीशिया) में और आंशिक जनविद्रोह ने साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के साथ मिलकर एक अरब देश (लीबिया) में सत्ता-परिवर्तन कर दिया (गौर करें, व्यवस्था-परिवर्तन नहीं), लेकिन अगर इन जनविद्रोहों के फलस्वरूप मौजूदा सत्ताओं का पतन हो जाता है और

इस प्रक्रिया में कोई क्रान्तिकारी विकल्प, कोई क्रान्तिकारी विचारधारा और कोई क्रान्तिकारी नेतृत्व संगठित नहीं हो पाता, तो एक निर्वात पैदा होगा। इस निर्वात को भरने का काम निश्चित तौर पर किसी भी क्रान्तिकारी ताकत के अभाव में प्रतिक्रियावादी ताकतें करेंगी। अरब जनउभार के मामले में यही हुआ है। दमन, उत्पीड़न, शोषण, गरीबी, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार और महँगाई के खिलाफ जनता की स्वतःस्फूर्त बगावतों ने मुबारक और बेन अली की सत्ताओं को पलट दिया! लेकिन स्वतःस्फूर्त रूप से जो वस्तुगत क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा हुई उसे सम्भालने और फिर क्रान्तिकारी दिशा में ले जाने के लिए कोई भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ताकत इन देशों में मौजूद नहीं थी। तब तक जनता क्या करे? क्या

जनता इन्तज़ार करेगी? नहीं! निश्चित तौर पर, जनता मौजूद विकल्पों में से उस विकल्प का चुनाव करेगी जो साम्राज्यवाद-विरोधी नज़र आयेगा; जो उसे जनवाद का वायदा करेगा; जो अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ उसकी नफ़रत का समर्थन करेगा। ऐसा ही अरब जनउभारों के बाद हुआ। यह सच है कि इन आन्दोलनों में बिखरी हुई वाम ताकतें मौजूद थीं। विशेषकर, मिस्र में तो तुलनात्मक रूप से बेहतर ताकत के साथ मौजूद थीं। लेकिन इनमें से कुछ विसर्जनवादी वामपंथी थे, कुछ अराजकतावादी ट्रेडयूनियनवादी, कुछ त्रात्स्कीपंथी, तो कुछ संघाधिपत्यवादी। इन ताकतों के नेतृत्व में कोई देशव्यापी नेतृत्व खड़ा हो पाना सम्भव नहीं था, और हुआ भी नहीं। मार्क्सवादी-लेनिनवादी ताकतें बेहद कमज़ोर अवस्था में हैं और जो हैं वे भी नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम की बेड़ियों में जकड़ी हुई हैं, जो अपने समाज के उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर और बुर्जुआ वर्ग के चरित्र का स्वतन्त्र और रचनात्मक अध्ययन करने की बजाय, नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध के बने-बनाये और घिसे-पिटे

फार्मुले को बिना सोचे-समझे अपने देश में लागू कर देना चाहती हैं। मजदूर आन्दोलन में त्रात्स्कीपंथियों और अराजकतावादियों की पकड़, मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारियों की तुलना में कहीं अधिक मजबूत है। नतीजतन, कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट नेतृत्व खड़ा होने की कोई सम्भावना निकट भविष्य में भी नहीं दिखती है। ऐसे में, प्रो. अहमद सिवाय इसके उम्मीद भी क्या कर सकते थे? प्रतिक्रियावादी ताकतों के प्रभावी स्थिति में आने की त्रासदी पर चकित-अचम्भित होने का कोई कारण समझ नहीं आता। प्रो. अहमद ट्रेड यूनियन आन्दोलन के नेतृत्व की स्थिति से अपदस्थ हो जाने को लेकर भी दुखी हैं। लेकिन यह भी होना ही था। कोई क्रान्तिकारी पार्टी एक राजनीतिक विकल्प दे सकती है, ट्रेड यूनियन आन्दोलन नहीं। लेकिन क्रान्ति के विज्ञान की ये बुनियादी बातें भी प्रो. अहमद के विश्लेषण से अनुपस्थित हैं। अगर कुछ मौजूद है तो वह प्रतिक्रियावादी ताकतों के हावी हो जाने पर प्रो. अहमद की मन्द सिसकियाँ हैं!

“दमन, उत्पीड़न, शोषण, गरीबी, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार और महँगाई के खिलाफ जनता की स्वतःस्फूर्त बगावतों ने मुबारक और बेन अली की सत्ताओं को पलट दिया! लेकिन स्वतःस्फूर्त रूप से जो वस्तुगत क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा हुई उसे सम्भालने और फिर क्रान्तिकारी दिशा में ले जाने के लिए कोई भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ताकत इन देशों में मौजूद नहीं थी। तब तक जनता क्या करे? क्या जनता इन्तज़ार करेगी? नहीं! निश्चित तौर पर, जनता मौजूद विकल्पों में से उस विकल्प का चुनाव करेगी जो साम्राज्यवाद-विरोधी नज़र आयेगा; जो उसे जनवाद का वायदा करेगा; जो अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ उसकी नफ़रत का समर्थन करेगा।”

इसके बाद प्रो. अहमद अपने विश्लेषण के जहाज़ को प्रशान्त महासागर पार करके अमेरिकी विरोध आन्दोलनों की ओर ले जाते हैं। वे सही बताते हैं कि पूरे अमेरिकी महाद्वीप में इस समय जनता पूँजीवाद की अराजकताओं और अनिश्चितताओं के खिलाफ सड़कों पर है। जनता ने बैंकों को बचाने, कल्याणकारी नीतियों को

त्यागने, शिक्षा और स्वास्थ्य से विनिवेश करने की नवउदारवादी नीतियों को टुकरा दिया है। चाहे अमेरिका हो, कनाडा हो या पनामा के पार चिली हो, हर जगह जनता नवउदारवादी नीतियों के विरुद्ध सड़कों पर है। यही स्थिति यूरोप की भी है। संकट के भूकम्प का गुरुत्व केन्द्र फिलहाल अमेरिका से स्थानान्तरित होकर यूरोप में पहुँच गया है और इसके नतीजे यूनान, पुर्तगाल, स्पेन, इटली और फ्रांस और यहाँ तक कि जर्मनी में भी दिखलायी देने लगे हैं। वे बताते हैं कि किस प्रकार यूरोपीय संघ के सपने के केन्द्र में “सामाजिक यूरोप” था लेकिन अपने जन्म से ही नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के कारण आज उसके केन्द्र में “बैंकर यूरोप” या “वित्तीय यूरोप” हो गया है, और अब जबकि नवउदारवाद अपने संकट की सीमा पर पहुँच रहा है, तो जनता ने उसे नकार दिया है। यहाँ पर भी प्रो. अहमद एक क्लासिकीय संशोधनवादी और सामाजिक जनवादी की तरह बात कर रहे हैं। “सामाजिक यूरोप” वाली बात को गम्भीरतापूर्वक लेना अब्बल दर्जे की मूर्खता है, या फिर संशोधनवादी घाघपन! हम सभी

जानते हैं कि यूरोपीय संघ का सपना वास्तव में कल्याणकारी नीतियों के पूरे यूरोप में समानतापूर्ण विस्तार के लिए एक दौर में उदार बुर्जुआ चिन्तकों और खास तौर पर सामाजिक-जनवादियों ने देखा था। उस समय भी एक यूनाईटेड यूरोप का सपना एक समाजवादी यूनाईटेड यूरोप का सपना नहीं था; उस समय भी यह एक “कल्याणकारी” राजकीय पूँजीवादी यूनाईटेड यूरोप का सपना था। इस कीन्सवादी हवाई सपने को प्रो. एजाज़ अहमद इतने नॉस्टैल्जिया के साथ क्यों याद कर रहे हैं, और उसके शव पर इतना स्यापा क्यों पा रहे हैं, इसके कारण समझे जा सकते हैं। बहरहाल, प्रो. अहमद “सामाजिक यूरोप” के ध्वंस पर रुदन ख़त्म करने के बाद ‘वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो’ आन्दोलन पर आते हैं।

प्रो. अहमद वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करने के आन्दोलन पर लहालोट हैं। वे फिलहाल इस आन्दोलन के सुषुप्तावस्था में होने के लिए मौसम को जिम्मेदार मानते हैं और कहते हैं कि “वे सर्दियों में शीतनिद्रा में चले गये हैं, लेकिन उनका बसन्त आयेगा।” इस साहित्यिक शब्दावली से प्रो. अहमद की भावनाओं को समझा जा सकता है। वे आगे कहते हैं कि इन सभी आन्दोलनों में एक सामान्य बात ये है कि ये सभी नवउदारवाद-विरोधी हैं। यह भी एक बड़ी मज़ेदार बात है। इन सभी आन्दोलनों को कोई “वित्तीय पूँजी विरोधी”, “बैंक इज़ारेदारी विरोधी”, तो कोई “नवउदारवाद-विरोधी” बोलता है; कोई भी इन्हें सिर्फ़ पूँजीवाद-विरोधी बोलने से कतराता है। उपरोक्त विशेषणों का मतलब यह है कि लोग पूँजीवाद-विरोधी नहीं हैं; लोग तो बस पूँजीवाद के मौजूदा रूप के विरोधी हैं। यानी, कि अगर 1960 का “स्वर्ण युग”, जिसकी पहचान “कल्याणकारी” पूँजीवादी राज्य से होती थी, आ जाये तो कोई दिक्कत नहीं है; अगर बैंकों और वित्तीय संस्थानों की तानाशाही ख़त्म हो जाये, और राज्य रोज़गार या फिर बेरोज़गारी भत्ता देने लगे, शिक्षा और स्वास्थ्य की जिम्मेदारी ले ले तो फिर कोई समस्या नहीं है। हम समाजवाद, समानता, मज़दूर सत्ता आदि को भूल सकते हैं। प्रो. अहमद भी ऐसा करने को तैयार नज़र आते हैं। जगह-जगह उन्होंने नवउदारवाद की आलोचना की है और नवउदारवाद के फलस्वरूप पैदा होने वाली सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की बात की है। लेकिन इसके विकल्प के तौर पर कहीं पर भी वे समाजवाद और अतीत के समाजवादी प्रयोगों की चर्चा करते नज़र नहीं आते! एक जगह वे समाजवाद का नाम लेते हैं, लेकिन समाजवाद का नाम

लेने के लिए उन्हें अपनी पूरी ताक़त झोंकनी पड़ी है! और काफ़ी मेहनत और पसीने-पसीने होकर इस अभिशप्त शब्द का नाम लेने के बाद वे बुरी तरह से शर्मिदा हो गये हैं। वे कहते हैं कि सोवियत तन्त्र के पतन के बाद लोग प्रतिरोध के नये रूपों के साथ प्रयोग कर रहे हैं, और अभी कोई ऐसा नया प्रतिरोध का रूप नहीं मिला है जो कि इक्कीसवीं सदी में मुक्ति की परियोजना के लिए उचित हो। वे किसी तरह काँखकर कहते हैं कि तब तक के लिए आरज़ी तौर पर आइये इस विकल्प को “समाजवाद” ही कह लें!

“सामाजिक यूरोप” वाली बात को गम्भीरतापूर्वक लेना अव्वल दर्जे की मूर्खता है, या फिर संशोधनवादी घाघपन! हम सभी जानते हैं कि यूरोपीय संघ का सपना वास्तव में कल्याणकारी नीतियों के पूरे यूरोप में समानतापूर्ण विस्तार के लिए एक दौर में उदार बुर्जुआ चिन्तकों और खास तौर पर सामाजिक-जनवादियों ने देखा था। उस समय भी एक यूनाईटेड यूरोप का सपना एक समाजवादी यूनाईटेड यूरोप का सपना नहीं था; उस समय भी यह एक “कल्याणकारी” राजकीय पूँजीवादी यूनाईटेड यूरोप का सपना था! इस कीन्सवादी हवाई सपने को प्रो. एजाज़ अहमद इतने नॉस्टैल्जिया के साथ क्यों याद कर रहे हैं, और उसके शव पर इतना स्यापा क्यों पा रहे हैं, इसके कारण समझे जा सकते हैं।”

यहाँ पर एक सामाजिक जनवादी के तौर पर प्रो. एजाज़ अहमद की पूरी सोच उजागर हो गयी है। पहली बात, वह एक भ्रम फैला रहे हैं। अगर आप सोवियत व्यवस्था के पतन की बात करते हैं और यह नहीं बताते कि इस पतन को आप 1956 में मानते हैं, जब स्तालिन की मृत्यु के तीन वर्षों बाद संशोधनवाद ने अपनी सत्ता को सोवियत पार्टी में निर्णायक रूप में सुदृढ़ कर लिया था, या फिर 1990 में मानते हैं जब सोवियत संघ का राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद जो कि आन्तरिक तौर पर सामाजिक फासीवादी हो चुका था और बाह्य तौर पर सामाजिक साम्राज्यवादी हो चुका था, अपने आन्तरिक अन्तरविरोधों के चलते ध्वस्त हो गया, तो आप एक ग़लतफ़हमी फैला रहे हैं। आप सामान्यीकृत शब्दावली में चलते-चलते सोवियत व्यवस्था के पतन की बात करते हैं। यह भयंकर विभ्रम की स्थिति

पैदा करता है। अगर आप 1956 में ही पूँजीवादी पुनर्स्थापना की शुरुआत को स्वीकार करते हैं तो फिर आप आगे के 35 वर्षों के दौरान समाजवाद के नाम पर चले राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद के अन्तरविरोधों का विश्लेषण भी कर सकते हैं, और उन कारकों और ग़लतियों का विश्लेषण भी कर सकते हैं जो स्तालिन-काल में हुईं और जिनके कारण पार्टी के भीतर संशोधनवाद और सामाजिक जनवाद अपनी सत्ता सुदृढ़ करने में सफल रहा और सोवियत संघ एक समाजवादी देश और मज़दूर सत्ता (निश्चित तौर पर, तमाम बुर्जुआ विकृतियों और नौकरशाहाना विरूपताओं के साथ) से एक पूँजीवादी देश और बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही में तब्दील हो गया। निश्चित तौर पर 1956 में ही सोवियत संघ में क्लासिकीय निजी सम्पत्ति वाले पूँजीवाद का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, और राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद को चलाना बुर्जुआ वर्ग की मजबूरी थी, क्योंकि जनता के दिल में अभी भी समाजवाद के प्रति जो भावना थी, उसके

मद्देनज़र तुरन्त खुले नग्न पूँजीवादी सम्बन्धों की स्थापना असम्भव थी। लेकिन, राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद के तहत सोवियत संघ में एक-एक करके समाजवाद की संस्थाओं और मूल्यों का ध्वंस किया गया। नागरिक स्वतन्त्रता और जनवादी अधिकार एक-एक करके खत्म होते गये। जो पीढ़ी समाजवाद के सकारात्मक की साक्षी रही थी, वह चीजों को समझ रही थी। जो पीढ़ी संशोधनवाद के दौरान ही सयानी हुई वह समाजवाद से ही नफ़रत करने लगी। जब पेरेश्रोइका और ग्लासोस्त की लहर चली तो खुलेपन और उदारता के नाम पर पश्चिमी पूँजीवाद के रुग्णतम मूल्यों ने सोवियत संघ में प्रवेश किया। अमेरिकी स्वतन्त्रता और जनवाद के नाम पर नग्नता, भोड़ेपन, अश्लीलता ने पूरे सांस्कृतिक परिदृश्य को छाप लिया। सोवियत संघ में 1956 के बाद से व्यवस्थित रूप से समाजवादी संस्थाओं को अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति से मिटाया गया, उनका ध्वंस किया गया।

इस पूरी प्रक्रिया के विवरण के बिना आप तमाम किस्म के नववामपंथी, उत्तर-मार्क्सवादी बहेतू दार्शनिकों की शब्दावली और शैली में चलते-चलाते सोवियत व्यवस्था के पतन के बाद प्रतिरोध के नये रूपों की तलाश की बात करेंगे, तो आपकी बातों का क्या अर्थ निकाला जायेगा? निश्चित तौर पर, आप भी बेदियू, जिज़ेक, हैलोवे, बटलर, माऊफ, लाक्लाऊ, नेग्री, हार्ट जैसे धुरीहीन चिन्तकों के समान आज की दुनिया को उत्तर-साम्यवादी घोषित कर रहे

हैं। आपकी बातों का अर्थ यही निकलता है कि आप बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को एक विपदा और बरबादी में खत्म होने वाली ग़लतियाँ मानते हैं, हालाँकि उन्होंने कुछ समय के लिए कुछ अच्छे सपने दिखाए थे। तो आप इस बात को खुले तौर पर क्यों नहीं कहते? घुमा-फिराकर क्यों कह रहे हैं? सच्चा मार्क्सवादी अपने विश्लेषण के नतीजों से नहीं डरता! न ही वह उन्हें छिपाता है! और न ही वह उन पर शर्मिंदा होता है! लेकिन सच बात तो यह है कि यह आपके विश्लेषण के नतीजे हैं ही नहीं! यह आपकी आस्था की अभिव्यक्ति है। आपकी अपनी हताशा, निराशा और अवसरवाद आपको अगर किसी क्रान्तिकारी नतीजे तक नहीं पहुँचने देता, तो ही आप ऐसी बातें करते हैं। सोवियत संघ और चीन के समाजवादी प्रयोगों की सफलताओं-असफलताओं का विश्लेषण किये बिना बीसवीं सदी के मार्क्सवादी कम्युनिज़्म पर फ़ैसले सुनाना तथाकथित नये बहेतू दार्शनिकों के कारण आजकल फ़ैशन में है। ऐसा

लगता है कि प्रो. एजाज़ अहमद भी इस फ़ैशन के हिमायती हो गये हैं! वे नये दार्शनिकों के धुरी-विहीन चिन्तन को अपने सामाजिक-जनवाद, कीन्सवाद और हताशा से मिला रहे हैं। यही कारण है कि उनके लेख को पूरा और बार-बार पढ़ने के बाद भी आप यह फ़ैसला नहीं कर पाते कि प्रो. एजाज़ अहमद अन्तिम तौर पर आख़िर कहना क्या चाहते हैं? लेकिन एक छाप आप अपने मस्तिष्क पर ज़रूर लेते हैं। वह यह कि नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के दौर में आपके पास पूँजीवाद का कोई कारगर विकल्प फिलहाल मौजूद नहीं है! बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को वे बिना किसी आलोचनात्मक विश्लेषण के ख़ारिज़ करते हैं; हालाँकि, वे मुक्ति की पूरी परियोजना को अभी भी (बड़े दुख और आपत्तियों के साथ!) “समाजवाद”

“सोवियत संघ और चीन के समाजवादी प्रयोगों की सफलताओं-असफलताओं का विश्लेषण किये बिना बीसवीं सदी के मार्क्सवादी कम्युनिज़्म पर फ़ैसले सुनाना तथाकथित नये बहेतू दार्शनिकों के कारण आजकल फ़ैशन में है। ऐसा लगता है कि प्रो. एजाज़ अहमद भी इस फ़ैशन के हिमायती हो गये हैं! वे नये दार्शनिकों के धुरी-विहीन चिन्तन को अपने सामाजिक-जनवाद, कीन्सवाद और हताशा से मिला रहे हैं। यही कारण है कि उनके लेख को पूरा और बार-बार पढ़ने के बाद भी आप यह फ़ैसला नहीं कर पाते कि प्रो. एजाज़ अहमद अन्तिम तौर पर आख़िर कहना क्या चाहते हैं?”

ही कहना चाहते हैं! लेकिन उनके अनुसार समाजवाद के “नये रूप” खोजने पड़ेंगे! इस बात से कोई इंकार नहीं कि पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में आये महत्वपूर्ण परिवर्तनों के मद्देनज़र मजदूर आन्दोलन की रणनीतियों और आम रणकौशल में बदलाव करने की आवश्यकता हो सकती है; इस बात से भी कोई दुराव नहीं है कि बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों के आलोचनात्मक विश्लेषण के बाद उनके नकारात्मक पहलुओं को दूर किया जाना चाहिए और सकारात्मक पहलुओं को अपनाया जाना चाहिए। लेकिन आप सबसे पहले बीसवीं सदी के पूरे अनुभव को ही त्याज्य मान रहे हैं, ख़ारिज़ कर रहे हैं और फिर उससे कोई आलोचनात्मक सम्बन्ध बनाये बिना आगे जाने और तथाकथित “नये

रूपों” की तलाश करने की बात कर रहे हैं! जाहिर है, आप इस तरह से मजदूर वर्ग की कोई विमोचक (रीडेम्प्टिव) गतिविधि संगठित नहीं कर सकते। आप महज़ जुमलेबाज़ी कर सकते हैं, स्थापा कर सकते हैं, छाती पीट सकते हैं।

इसके बाद प्रो. अहमद आगे बढ़ते हुए मानते हैं कि “सामाजिक यूरोप” के पतन का एक कारण सामाजिक जनवाद का नवउदारवादी एजेण्डे के समक्ष आत्मसमर्पण भी है। वह लिखते हैं कि “कम्युनिज़्म के पतन” और “सामाजिक जनवाद के नवउदारवाद के सामने समर्पण” के बाद अराजकतावाद प्रतिरोध आन्दोलनों की प्रमुख विचारधारा बन गया है। अराजकतावाद वाली बात पर बाद में आते हैं। कम्युनिज़्म के तथाकथित पतन के बारे में प्रो. एजाज़ अहमद के विचारों की संक्षिप्त समीक्षा हम ऊपर कर आये हैं। लेकिन सामाजिक जनवाद के बारे में उनका प्रेक्षण एकदम सही है। ब्रिटेन में लेबर पार्टी, अमेरिका में डेमोक्रेटिक पार्टी, फ़्रांस में सामाजिक जनवादी

पार्टी और साथ ही फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी, जर्मनी में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, और इसी प्रकार यूरोप के अन्य देशों में भी अलग-अलग नामों से काम करने वाले सामाजिक जनवादियों ने 1960 के दशक से ही पूँजीवाद के सामने खुला समर्पण कर दिया था। जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन में सामाजिक जनवादियों की मजदूर वर्ग के साथ गद्दारी तो उन्नीसवीं सदी से ही जारी है। मार्क्स ने 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' और लेनिन ने 'राज्य और क्रान्ति', 'सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काऊत्स्की', 'दूसरे इण्टरनेशनल का पतन' आदि जैसी रचनाओं में सामाजिक जनवाद की गद्दारी और पतन को सटीक तरीके से चित्रित किया है। एजाज़ अहमद का प्रेक्षण

कोई नयी बात नहीं कहता। बस एक बात समझ में नहीं आती। सामाजिक जनवाद की इस गद्दारी और 1980 के दशक के बाद से नवउदारवाद के एजेण्डे के समक्ष समर्पण की पूरी व्याख्या को वह भारत में माकपा और भाकपा पर क्यों नहीं लागू करते? माकपा ने पश्चिम बंगाल में अपने शासन के दौरान जो किया था वह वास्तव में नवउदारवाद के सामने आत्मसमर्पण ही तो था? वरना नन्दीग्राम और सिंगूर जैसी घटनाएँ न घटतीं। और अगर वे घटनाएँ न भी घटी होतीं तो पश्चिम बंगाल में जो नीतियाँ वाम मोर्चे की सरकार लागू कर रही थी, वह परिमाण में भी केन्द्र

में राजग या संप्रग सरकार की नीतियों से ज्यादा पीछे नहीं थीं। बुद्धदेव भट्टाचार्य ने तो खुले तौर पर कहा था कि मजदूर वर्ग को अब पूँजीपति वर्ग के साथ वर्ग सहयोग की नीति पर अमल करना चाहिए! ऐसे में, प्रो. एजाज़ अहमद अगर अपने विश्लेषण और व्याख्या को भारत के सामाजिक जनवादियों यानी संसदीय वामपंथियों पर लागू नहीं करते, जो कि अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर देखें तो सामाजिक जनवादियों की सबसे ज़लील किस्मों में से एक हैं, तो इसे प्रो. एजाज़ अहमद की नासमझी या नादानि नहीं माना जाएगा, बल्कि अवसरवाद और बेईमानी माना जाएगा।

अब आते हैं अराजकतावाद के नये आन्दोलनों में वर्चस्वकारी बनने की बात पर। प्रो. एजाज़ अहमद तथ्यतः एक सही बात कह रहे हैं। यह सच है कि मौजूदा आन्दोलनों और विशेषकर यूरोपीय देशों और अमेरिका में चल रहे स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों में सबसे प्रमुख बात यह है कि अराजकतावादी ताकतें उसमें सबसे ज्यादा सक्रिय हैं। लेकिन इसके कारणों की प्रो. अहमद कोई व्याख्या नहीं करते। इसका प्रमुख कारण यूरोप और अमेरिका में 1960 के दशक के दौरान सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ द्वारा पूर्वी यूरोप में किये

गये साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के चलते समाजवाद से हुआ मोहभंग था। यही कारण था कि 1968 में दुनिया के कई हिस्सों में जो छात्रों, युवाओं, स्त्रियों और मजदूरों के आन्दोलन हुए और जो बौद्धिक धाराएँ उसमें से फूटीं, वे किसी ऐसी विचारधारा की माँग कर रही थीं जो मार्क्सवाद से भी ज्यादा "रैडिकल" हो! मार्क्सवाद के नाम पर सोवियत साम्राज्यवाद जो कर रहा था, उससे मार्क्सवादी विचारधारा को कलंकित करने का साम्राज्यवादी बौद्धिक एजेण्टों को भी खूब मौका मिला। 1960 का ही दशक था जब उत्तर-औद्योगिक समाज, उत्तर-आधुनिक स्थिति आदि की बात करते हुए किसी भी किस्म के प्रगतिशील यूटोपिया को पश्चिम के प्रभुत्वकारी परियोजना का हिस्सा बताया जाने लगा।

"1960 का ही दशक था जब उत्तर-औद्योगिक समाज, उत्तर-आधुनिक स्थिति आदि की बात करते हुए किसी भी किस्म के प्रगतिशील यूटोपिया को पश्चिम के प्रभुत्वकारी परियोजना का हिस्सा बताया जाने लगा। आधुनिकता, तर्कपरकता, वैज्ञानिकता आदि के मूल्य पूँजीवाद द्वारा इनके मानवद्रोही प्रयोग के चलते कलंकित हुए। प्रबोधन को सारी बुराई की जड़ माना गया और कहा गया कि प्रबोधन केस साथ ही पश्चिम का विश्व पर प्रभुत्व स्थापित करने का काम शुरू हुआ।"

आधुनिकता, तर्कपरकता, वैज्ञानिकता आदि के मूल्य पूँजीवाद द्वारा इनके मानवद्रोही प्रयोग के चलते कलंकित हुए। प्रबोधन को सारी बुराई की जड़ माना गया और कहा गया कि प्रबोधन केस साथ ही पश्चिम का विश्व पर प्रभुत्व स्थापित करने का काम शुरू हुआ। मार्क्सवाद को प्रबोधन के विश्व प्रभुत्व की परियोजना का हिस्सा घोषित किया गया। तो ल्योताद ने सभी महाख्यानों, यानी परिवर्तन की सभी प्रगतिशील परियोजनाओं, को आधुनिकता के बीते युग का अवशेष बताया और दावा किया कि हम उत्तर-आधुनिक युग में प्रवेश कर चुके हैं जब ये महाख्यान अर्थहीन बन चुके हैं; मिशेल फूको ने

बताया कि सत्ता से आप बच नहीं सकते, इसलिए सत्ता का संगठित प्रतिरोध व्यर्थ है; आप अगर सत्ता का संगठित प्रतिरोध करेंगे तो यह प्रतिरोध स्वयं सत्ता की एक संरचना बन जाएगा; इसलिए संगठित जनप्रतिरोध की सोच व्यर्थ है क्योंकि आप संगठित प्रतिरोध करते हुए कुछ मानकों के अधीन हो जाते हैं और हर सार्वभौम मूल्य, मानक या सामान्यता की अवधारणा सत्ता की अवधारणा है, यह दमनकारी अवधारणा है; आप कुछ कर सकते हैं तो वह है हर प्रकार के मानक, सार्वभौम मूल्य और सामान्यता की अवधारणा का विरोध; फूको की पूरी विचार पद्धति का सार यही है। इस तरह से 1968 के दौरान पेरिस में जो प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची, उसके सकारात्मक से ज्यादा नकारात्मक थे। समाजवाद के नाम पर संशोधनवादी साम्राज्यवादी सोवियत रूस ने जो किया, उसकी प्रतिक्रिया और उससे निर्णायक विच्छेद करने की प्रक्रिया में चीजें दूसरे छोर पर चली गयीं। इसी का लाभ साम्राज्यवाद को मिला और अपनी सबसे पतनशील विचार-सरणि, यानी उत्तर-आधुनिकतावाद को रैडिकल प्रगतिशील आन्दोलन में घुसाने में वह सफल हुआ। उत्तरआधुनिकता की जन्म भूमि और उत्स मई 1968 का पेरिस है। वास्तव में, यहाँ

अराजकतावाद, 19वीं सदी का सर्वखण्डनवाद, नीत्सो और स्पेंगलर का मानवतावाद-विरोध, सैद्धान्तिक विज्ञान में मौजूद नवकाण्टवाद, उत्तर-औद्योगिक सिद्धान्त और तरह-तरह की रहस्यवादी प्राच्य विचार सरणियों का अजीबो-ग़रीब और बेहद ख़तरनाक मिलन हुआ। इस दौर में चीन में जारी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को भी 1968 में पैदा हुए “अति-रैडिकल” दार्शनिकों ने पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति के रूप में चित्रित किया, जबकि वह सर्वहारा वर्ग की पार्टी में स्थापित हुए बुर्जुआ मुख्यालय पर हमला कर रही थी। तो इस तरह से चीज़ों को सिर के बल खड़ा किया गया। अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवाद के कुकर्मों को क्रमशः प्रबोधन की तार्किकता व वैज्ञानिकता, तथा मार्क्सवाद के सिद्धान्त पर डाल दिया गया। और ऐसा सिर्फ़ इसलिए किया गया ताकि अन्ततः

यह साबित किया जा सके कि उदार बुर्जुआ जनवाद ही मानवता के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है; बाकी सभी व्यवस्थाओं का अन्त साम्यवादी या धार्मिक कट्टरपंथी सर्वसत्तावाद में होगा! यही बात आज अराजकतावादी, चॉम्स्कीपंथी, एक अलग किस्म की शब्दावली में तरह-तरह के त्राट्स्कीपंथी, सर्वखण्डनवादी मौजूदा पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों में प्रचारित कर रहे हैं। यही अराजकतावाद की वर्तमान भूमिका इन जनान्दोलनों में है: यानी परिवर्तन से उसका अभिकर्ता छीन लेना! प्रो. अहमद कम्युनिज़्म के

तथाकथित “पतन” और सामाजिक जनवाद के वास्तविक आत्मसमर्पण और नवउदारवाद के हाथों बिक जाने के साथ, अराजकतावाद के इस प्रतीत होते उद्भव के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं कहते, न ही इसका कोई विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। ऐसा ध्वनित होता है मानो कम्युनिज़्म द्वारा खाली की गयी जगह को अराजकतावाद भर रहा है!

इसके बाद प्रो. अहमद मई 1968, पेरिस के जनउभार से मौजूदा जनउभार के फर्क बताते हैं। ये फर्क भी अजीबो-ग़रीब हैं। पहला फर्क जो प्रो. अहमद गिनाते हैं वह यह है कि 1968 में जो जनउभार हुआ था वह पूँजीवाद के “स्वर्णिम युग” में हुआ था। तब पूँजीवाद संकट में नहीं था। यह भी एक सतही प्रेक्षण है। 1968 वह समय था जब केनेडी काल में शुरू हुआ तेज़ी का दौर ठहराव पर आ रहा था और तीन साल बाद ही डॉलर-स्वर्ण मानक के पतन के साथ पहले से निर्मित हो रहा संकट फूट पड़ा था। इसलिए, प्रो. अहमद का यह श्रेणीकरण सटीक नहीं है। दूसरी बात जो प्रो. अहमद कहते हैं, वह खुद ही एक मायने में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कदम पीछे हटने की द्योतक थी। वे कहते हैं कि यह दौर राष्ट्रीय मुक्ति

आन्दोलनों और युद्धों का भी दौर था। यह वह दशक था जब विऔपनिवेशिकीकरण की प्रक्रिया सबसे सघन रूप से चली। यही वह दौर था जब प्रत्यक्ष उपनिवेशों के आज़ाद होने के साथ ही साम्राज्यवाद अपने नियन्त्रण के नये तौर-तरीकों का दक्षिण अमेरिकी देशों में अभ्यास कर रहा था और सैन्य जुण्टाएँ बिठा रहा था। वास्तव में, 1968 के दौरान हुए जनउभार को तैयार करने वाले कई कारक थे जैसे, सोवियत साम्राज्यवाद के कुकर्मों के कारण समाजवाद और मार्क्सवाद से एक मोहभंग की स्थिति पैदा होना; पूरी दुनिया में वियतनाम युद्ध के विरुद्ध जनभावना; संशोधनवादी सोवियत संघ और साम्राज्यवादी अमेरिका और ब्रिटेन, दोनों से मोहभंग के रूप में पैदा हुई प्रतिक्रिया के तौर पर उत्तरआधुनिकतावाद का जन्म; साम्राज्यवाद का संकट जो

“तो इस तरह से चीज़ों को सिर के बल खड़ा किया गया। अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवाद के कुकर्मों को क्रमशः प्रबोधन की तार्किकता व वैज्ञानिकता, तथा मार्क्सवाद के सिद्धान्त पर डाल दिया गया। और ऐसा सिर्फ़ इसलिए किया गया ताकि अन्ततः यह साबित किया जा सके कि उदार बुर्जुआ जनवाद ही मानवता के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है; बाकी सभी व्यवस्थाओं का अन्त साम्यवादी या धार्मिक कट्टरपंथी सर्वसत्तावाद में होगा!”

कि विऔपनिवेशिकीकरण और वियतनाम युद्ध के रूप में प्रकट हो रहा था; चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा पूरी दुनिया के जनसंघर्षों का प्रेरणा ग्रहण करना, हालाँकि इस प्रेरणा के पीछे की समझदारी ग़लत और अधूरी थी; ‘महान बहस’ के दौरान चीनी पार्टी का सोवियत संघ के संशोधनवाद से विच्छेद, आदि। लेकिन इन सारे कारकों के मिश्रण-मन्थन से वास्तव में जो पैदा हुआ वह क्रान्तिकारी सर्वहारा आन्दोलन के लिए ख़तरनाक ही था। प्रो. अहमद कहते हैं कि 2011 में जो जनउभार पैदा हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि में, लातिन अमेरिका के अपवाद को छोड़

दें, तो मार्क्सवाद की “पूर्ण पराजय” है। यह भी एक भयंकर भ्रमित/भ्रामक कथन है! पहली बात तो यह कि प्रो. अहमद को स्पष्ट करना चाहिए कि मार्क्सवाद की “पूर्ण पराजय” से उनका क्या अर्थ है; हमारी तरह वह पूर्ण पराजय को डबल कोट में नहीं रखते! दूसरी बात यह कि आज जिसे मार्क्सवाद की पराजय कहा जा रहा है, उसके बीज उसी 1968 के जनउभार की बौद्धिक पैदावारों के जरिये पड़े थे! हम नहीं मानते कि मार्क्सवाद की पूर्ण पराजय जैसी कोई चीज़ आज हमारे सामने है। यह तो चीज़ों को सिर के बल खड़ा करके देखने वाली बात है। वास्तव में, आज हम मार्क्सवाद की वापसी के साक्षी बन रहे हैं! संकट को समझने के लिए पूँजीवादी विश्व के चौधरी और बौद्धिक टट्टू भी मार्क्स को पढ़ रहे हैं। ‘तीसरी दुनिया’ के तमाम देशों में मार्क्सवाद की तरफ रुचि बढ़ी है और लोग इसकी ओर मुड़ रहे हैं। यहाँ तक कि पश्चिमी अकादमिक जगत में, जहाँ आज से दस-पन्द्रह वर्ष पहले मार्क्सवाद एक शर्मनाक शब्द बन गया था और लोग ‘उत्तर-’ विचार सरणियों की शरण में जा रहे थे, वहाँ भी ‘उत्तर-’ विचार सरणियों को कचरा पेटी के हवाले

किया जा रहा है और मार्क्सवाद की ओर वापसी हो रही है। ऐसे में, प्रो. अहमद जिस चीज़ को मार्क्सवाद की पूर्ण पराजय कह रहे हैं, उसका वास्तव में एक ही अर्थ हो सकता है—मौजूदा जनउभारों का नेतृत्व किसी मार्क्सवादी ताक़त के हाथों में न आना। लेकिन इससे फिलहाल कुछ भी साबित नहीं होता।

प्रो. अहमद के इसी कथन का एक दूसरा पहलू जो और भी अधिक भ्रम पैदा करने वाला है, वह यह है कि मार्क्सवाद की इस तथाकथित “पूर्ण पराजय” के मामले में लातिन अमेरिका अपवाद है! लातिन अमेरिका में जो बोलीवारियन विकल्प खड़ा करने की चर्चाएँ आजकल चारों तरफ़ हो रही हैं, उसपर प्रो. अहमद बुरी तरह से फ़िदा हैं! बोलीविया, इक्वाडोर और वेनेजुएला में जो हो रहा है उसे वह

भी शायद इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नये किस्म के प्रयोग मानते हैं। वास्तव में, वाम बुद्धिजीवियों के बीच शावेज़, मोरालेस-शैली के राजकीय इज़ारेदारी वाले कल्याणकारी राज्य को समाजवाद का मॉडल घोषित करके उसके प्रशस्ति-गान गाने का जो चलन आज पूरी दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में देखा जा सकता है, उसके मूल में वास्तव में एक पराजय-बोध है। नवउदारवाद के विरोध, कल्याणकारी नीतियों, जनता की पहलकदमी पर बनी कुछ जन-चौकसी समितियों आदि की मौजूदगी, कुछ लोकप्रिय जनसंस्थाओं के अस्तित्व में आने और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ नफ़रत के आधार पर ही शावेज़ और मोरालेस आदि की सत्ताओं को इक्कीसवीं सदी का समाजवाद घोषित कर दिया गया

है। वैसे तो यह एक अलग बहस का मुद्दा है और आने वाले समय में बोलिवारियन उभार की नियति भी कई सवालों को स्पष्ट कर देगी, लेकिन फिलहाल इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद के विज्ञान के मुताबिक जिन कसौटियों या मानकों को समाजवाद का पैमाना माना जा सकता है, उनमें से किसी भी पैमाने पर बोलिवारियन क्रान्ति से जन्मी सत्ताएँ खरी नहीं उतरती हैं। इस पर हम यहाँ आगे चर्चा नहीं कर सकते क्योंकि यह विषय अलग से एक लम्बे आलेख की माँग करता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि लातिन अमेरिका में बोलिवारियन क्रान्ति के अंग के तौर पर अस्तित्व में आयीं सत्ताओं से प्रो. एजाज़ अहमद का प्यार एक निहायत सामाजिक जनवादी प्यार है जिसके पीछे इन राज्यों की कल्याणकारी नीतियाँ हैं। न तो वहाँ कल-कारखाने, खान-खदान मज़दूरों के समूहों के नियन्त्रण में हैं, न निजी सम्पत्ति का खात्मा हुआ है, और न ही राजनीतिक निर्णय

प्रत्यक्ष रूप से लेने की ताक़त जनता के हाथों में है। लेकिन फिर भी प्रो. अहमद लातिन अमेरिका की गुलाबी लहर को समाजवाद का नया प्रयोग समझते प्रतीत होते हैं। हद तो तब हो जाती है जब प्रो. एजाज़ अहमद वर्ल्ड सोशल फोरम को नवउदारवादी पूँजीवाद के खिलाफ़ जनता के प्रतिरोध का एक हिस्सा मान बैठते हैं। हालाँकि, उन्हें शायद याद नहीं रहता कि लातिन अमेरिका के जिस देश को वे गुलाबी लहर का हिस्सा नहीं मानते, और नवउदारवादी लहर का एक हिस्सा मानते हैं, यानी कि ब्राज़ील, उस देश के भूतपूर्व राष्ट्रपति लूला की इस मंच के निर्माण में बहुत बड़ी भूमिका थी। वे शायद यह भी भूल गये हैं कि कुख्यात वर्ल्ड सोशल फोरम की स्थापना में फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलने वाली

“वास्तव में, वाम बुद्धिजीवियों के बीच शावेज़, मोरालेस-शैली के राजकीय इज़ारेदारी वाले कल्याणकारी राज्य को समाजवाद का मॉडल घोषित करके उसके प्रशस्ति-गान गाने का जो चलन आज पूरी दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में देखा जा सकता है, उसके मूल में वास्तव में एक पराजय-बोध है। नवउदारवाद के विरोध, कल्याणकारी नीतियों, जनता की पहलकदमी पर बनी कुछ जन-चौकसी समितियों आदि की मौजूदगी, कुछ लोकप्रिय जनसंस्थाओं के अस्तित्व में आने और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ नफ़रत के आधार पर ही शावेज़ और मोरालेस आदि की सत्ताओं को इक्कीसवीं सदी का समाजवाद घोषित कर दिया गया है।”

फण्डिंग एजेंसी अटैक का भी केन्द्रीय योगदान था। वे शायद जेम्स पेत्रास, हेनरी वेल्तमेयर, जोन रोयलोव्स, पी.जे.जेम्स जैसे तमाम बुद्धिजीवियों द्वारा इन साम्राज्यवादी स्वयंसेवी संगठनों द्वारा की जा रही ख़तरनाक साम्राज्यवादी साज़िश के पर्दाफाश को भी भूल गये हैं! जाहिर है, प्रो. एजाज़ अहमद फिर से अपनी सामाजिक जनवादी आसक्ति को रोक नहीं पा रहे हैं, जो पूँजीवाद के समक्ष आत्मसमर्पण, पराजय-बोध और पूँजीवाद के दायरे में ही कुछ कीन्सीय और कल्याणकारी सुधारवाद के अलावा और कुछ भी नहीं है। प्रो. अहमद 1968 से फर्क बताते हुए एक जगह यह मान बैठते हैं कि 2011 के प्रतिरोध आन्दोलनों का मकसद एक बेहतर, अधिक

मानवीय और सुधरे हुए पूँजीवाद को हासिल करना है। अरब जनउभार के मामले में पश्चिमी शैली के लोकतन्त्र को एक फ़ेटिश बना दिया गया है (बकौल प्रो. अहमद), और वे अमेरिका और यूरोपीय देशों में चल रहे आन्दोलनों में कीन्स और यहाँ तक कि प्रूथों के प्रति एक नॉस्टैल्जिया को देख रहे हैं। अब यह बात दीगर है कि वे स्वयं इस नॉस्टैल्जिया के बुरी तरह से मरीज़ हैं!

इसके बाद प्रो. अहमद बल प्रयोग के रास्ते क्रान्ति तक पहुँचने की बात करने वाली ताक़तों के भविष्य के बारे में अपनी राय ज़ाहिर करते हैं। इतिहास में बल प्रयोग की भूमिका को खारिज करने के लिए एजाज़ अहमद दार्शनिक नटगिरी का नायाब नमूना पेश करते हैं। वह हेगेल तक जाते हैं और हेगेल का एक उद्धरण ढूँढकर लाते हैं। हेगेल ने एक जगह कहा है कि ‘इतिहास अनिवार्यता है।’ प्रो. एजाज़ अहमद इसे एक “यथार्थवादी” कथन बताते हैं और इसे 1968 के इस कथन के बरक्स खड़ा करते हैं: ‘यथार्थवादी बनो,

और असम्भव का स्वप्न देखो!' इसके बाद, वे हमें इस बात पर सहमत करने की कोशिश करते हैं कि 1968 का यह नारा वास्तव में हेगेल-विरोधी है क्योंकि वह इतिहास को अनिवार्यता के नियम से निर्धारित होने वाला घटना-क्रम नहीं मानता, बल्कि आत्मगत प्रयास से ऐसी चीजों को भी सम्भव बनाने में यकीन रखता है, जो अनिवार्यता के नियम के अनुसार असम्भव है। बहरहाल, हेगेल ने जब इतिहास को अनिवार्यता कहा था तो उनका अर्थ इतिहास में कारणात्मकता (कॉज़ैलिटी) के पहलू पर जोर देना था। मार्क्स ने इस बात के लिए हेगेल की आलोचना की थी कि वे कारणात्मकता या अनिवार्यता को निरपेक्ष (और इस अर्थ में दैवीय या ईश्वरीय) मानते थे, और उसकी ऐतिहासिकता को नहीं समझते थे। मार्क्स ने हर परिघटना को उसकी ऐतिहासिकता के रूप में समझा और हेगेल की इस ग़लती को दुरुस्त किया जो हर परिघटना को निरपेक्ष अनिवार्यता के रूप में देखती थी। क्योंकि हेगेल के दृष्टिकोण से हर परिघटना को जायज़ ठहराया जा सकता है, निरपेक्ष अनिवार्यता के रूप में। सरल शब्दों में कहा जाय तो हर चीज़ होती है, क्योंकि

“और इसके बाद प्रो. अहमद एक संशोधनवादी मास्टर स्ट्रोक जमाते हुए जो कहते हैं, उसका अर्थ यह है कि बल प्रयोग के साथ क्रान्ति, मज़दूर सत्ता की स्थापना और क्लासिकीय अर्थों में समाजवाद का निर्माण असम्भव है! जो उन्हें सम्भव लगता है वह है लातिन अमेरिका के बोलिवारियन प्रयोग जिसमें कल्याणकारी राज्य, एक प्रबुद्ध बोनापार्टवाद और नवउदारवाद और साम्राज्यवाद का इसी ज़मीन से प्रतिरोध।”

वही हो सकती है! जबकि मार्क्स का दृष्टिकोण था कि हर चीज़ अपनी ऐतिहासिकता में होती है, और इस ऐतिहासिकता को समझकर उसे सामूहिक अभिकर्ता के सक्रिय और सचेतन आत्मगत प्रयास से बदला जा सकता है। लेकिन प्रो. अहमद ने हेगेल को उससे भी ज़्यादा प्रतिक्रियावादी बना दिया है, जितने कि हेगेल थे! इसके बाद भी प्रो. अहमद का मन नहीं भरा और उन्होंने लेनिन को भी अपने सामाजिक जनवाद और सुधारवाद से विनियोजित करने की भरपूर कोशिश की है। आगे वे कहते हैं कि वे हेगेल की बजाय लेनिन के फार्मुले को ज़्यादा पसन्द करते हैं! यह सुनकर अच्छा लगता है, लेकिन यह सुख लघुजीवी सिद्ध होता है क्योंकि आगे वे कहते हैं कि लेनिन के फार्मुले को वे अपने शब्दों में इस प्रकार रखते हैं: 'असम्भव की कल्पना करो, अपने स्वप्न के प्रति ईमानदार रहो और असम्भव के उस हिस्से पर काम करो जो सम्भव है।' (!?) और इसके बाद प्रो. अहमद एक संशोधनवादी मास्टर स्ट्रोक जमाते हुए जो कहते हैं, उसका अर्थ यह है कि बल प्रयोग के साथ क्रान्ति, मज़दूर सत्ता की स्थापना और क्लासिकीय अर्थों में समाजवाद का निर्माण असम्भव है! जो उन्हें सम्भव लगता है वह है लातिन अमेरिका के बोलिवारियन प्रयोग जिसमें कल्याणकारी राज्य, एक प्रबुद्ध बोनापार्टवाद और नवउदारवाद और साम्राज्यवाद का इसी ज़मीन से प्रतिरोध। तो प्रो. अहमद क्लासिकीय समाजवाद के 'असम्भव' के प्रति 'ईमानदार' बने रहते हुए इस 'असम्भव' के 'सम्भव'

हिस्से यानी कि उदार प्रबुद्ध बोनापार्टवाद के कल्याणवाद और नवउदारवादी साम्राज्यवाद-विरोध के साथ मिश्रण, पर अमल का सुझाव देते हैं! यह है प्रो. एजाज़ अहमद का राजनीतिक नुस्खा! और पूरी दुनिया के प्रतिरोध आन्दोलन के संकट को इसी नुस्खे से दूर किया जा सकता है, बकौल प्रो. अहमद! अरब विश्व में अगर राजनीतिक मुद्दों से सामाजिक-आर्थिक मुद्दों की तरफ़ संक्रमण हो जाये, अगर वहाँ सेक्युलर ताकतों का गठजोड़ साम्राज्यवाद और नवउदारवाद

के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाकर इस्लामिक कट्टरपंथी ताकतों को हाशिये पर पहुँचा दें और कल्याणकारी राज्य के नुस्खे से ग़रीबी, बेरोज़गारी और महँगाई जैसी समस्याओं का समाधान कर दें; अगर अमेरिकी और यूरोपीय विश्व में चल रहे जनान्दोलन भी संगठित रूप से कल्याणकारी राज्य के नुस्खे पर अमल करते हुए चुनावों के रास्ते एक सच्चे सामाजिक जनवादी (संशोधनवादी) और कीन्सियाई रास्ते पर चलने वाले नेतृत्व को सत्ता में पहुँचा दें; अगर तमाम 'तीसरी दुनिया' के देशों में पैदा होने वाले भावी आन्दोलन भी बोलिवारियन लहर की तर्ज़ पर काम करें, तो समस्या का हल निकल जायेगा! लेख के अन्त में वे एक बार फिर से वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो आन्दोलन का गुणगान करते हुए कहते हैं कि वह हर उस बोली को बोल रहा है जो वामपंथ ने पिछले 150 वर्षों में बोली है! अब इसका अर्थ तो प्रो. अहमद ही बता सकते हैं, क्योंकि कुछ पैराग्राफ़ पहले ही वह यह बता रहे थे कि किस तरह से वामपंथ के हास के कारण इन आन्दोलनों में अराजकतावाद हावी हो चुका है, और मौजूदा पूँजीवाद-विरोधी जनउभारों की प्रभावी विचारधारा अराजकतावाद है! खैर, हम प्रो. अहमद के इस लेख के विरोधाभासों को गिनाने का काम नहीं कर सकते क्योंकि उसके लिए एक अलग ही लेख लिखना पड़ जायेगा।

अन्त में कहा जा सकता है कि प्रो. एजाज़ अहमद से हम इतने कमज़ोर और बौद्धिक तौर पर अनिरंतर लेख की उम्मीद नहीं करते थे। अभी कुछ वर्षों पहले तक उनके लेखन में उनकी बौद्धिक ईमानदारी (एक राजनीतिक और साहित्यालोचक चिन्तक के तौर पर मार्क्सवाद के प्रति ईमानदारी, चाहे आप उनके विश्लेषणों से सहमत हों या असहमत) और राजनीतिक पक्षधरता (संशोधनवादी पार्टियों के साथ जुड़ाव) के बीच के तनाव और द्वन्द्व को महसूस कर सकते थे। लेकिन अब यह द्वन्द्व सुलझता नज़र आ रहा है; दुख की बात यह है कि यह हल राजनीतिक पक्षधरता की ओर झुकते हुए हो रहा है। नतीजा साफ़ है। यह हल बौद्धिक ईमानदारी की कीमत पर होता नज़र आ रहा है।

साहित्यालोचना और संस्कृति के क्षेत्र में आज भी

उनके पुराने लेखन को उत्तर-आधुनिकता के हमलों के विरुद्ध मार्क्सवाद की सर्वश्रेष्ठ रक्षा के उदाहरणों में गिना जा सकता है। जेम्सन और इंगलटन द्वारा उत्तर-आधुनिकतावाद की नरम और कभी-कभी शर्मिदा-सी दिखने वाली आलोचनाओं की तुलना में उनकी आलोचनाएँ अधिक तीक्ष्ण दिखती हैं। लेकिन इस लेख में उनकी अवस्थिति साफ़ तौर पर संशोधनवाद की तरफ़ बढ़ते झुकाव के कारण बौद्धिक धार के कुन्द पड़ने का सबूत है। हम इस पर अफ़सोस ही कर सकते हैं। प्रो.

प्रभात पटनायक जिस नियति को पहले ही प्राप्त हो चुके हैं, प्रो. एजाज़ अहमद भी उसी नियति को प्राप्त होते दिख रहे हैं। यह लाज़िमी भी था। साहित्य के क्षेत्र में देर तक मार्क्सवादी होना/दिखना आसान होता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र में विज्ञान की सटीकता का आग्रह ज्यादा होने के कारण आप जल्दी पार लग जाते हैं! गुलती प्रो. प्रभात पटनायक और वरीयता प्रो. एजाज़ अहमद की नहीं है; आइये इसका दोष/श्रेय अलग-अलग विषयों की विशिष्टताओं पर डाल दें।

साहित्य

समझदारों का गीत

● गोरख पाण्डेय

हवा का रुख़ कैसा है, हम समझते हैं
हम उसे पीठ क्यों दे देते हैं, हम समझते हैं
हम समझते हैं खून का मतलब
पैसे की कीमत हम समझते हैं
क्या है पक्ष में विपक्ष में क्या है, हम समझते हैं
हम इतना समझते हैं
कि समझने से डरते हैं और चुप रहते हैं।
चुप्पी का मतलब भी हम समझते हैं
बोलते हैं तो सोच-समझकर बोलते हैं हम
हम बोलने की आज़ादी का
मतलब समझते हैं
टुटपुंजिया नौकरी के लिये
आज़ादी बेचने का मतलब हम समझते हैं
मगर हम क्या कर सकते हैं
अगर बेरोज़गारी अन्याय से
तेज़ दर से बढ़ रही है
हम आज़ादी और बेरोज़गारी दोनों के
ख़तरे समझते हैं
हम ख़तरों से बाल-बल बच जाते हैं
हम समझते हैं
हम क्यों बच जाते हैं, यह भी हम समझते हैं।

हम ईश्वर से दुखी रहते हैं अगर वह
सिर्फ़ कल्पना नहीं है
हम सरकार से दुखी रहते हैं
कि समझती क्यों नहीं
हम जनता से दुखी रहते हैं
कि भेड़ियाधसान होती है।

हम सारी दुनिया के दुख से दुखी रहते हैं
हम समझते हैं
मगर हम कितना दुखी रहते हैं यह भी
हम समझते हैं
यहाँ विरोध ही वाजिब कदम है
हम समझते हैं
हम कदम-कदम पर समझौते करते हैं
हम समझते हैं
हम समझौते के लिए तर्क गढ़ते हैं
हर तर्क गोल-मटोल भाषा में
पेश करते हैं, हम समझते हैं
हम इस गोल-मटोल भाषा का तर्क भी
समझते हैं।

वैसे हम अपने को किसी से कम
नहीं समझते हैं
हर स्याह को सफ़ेद और
सफ़ेद को स्याह कर सकते हैं
हम चाय की प्यालियों में
तूफ़ान खड़ा कर सकते हैं
करने को तो हम क्रान्ति भी कर सकते हैं
अगर सरकार कमज़ोर हो
और जनता समझदार
लेकिन हम समझते हैं
कि हम कुछ नहीं कर सकते हैं
हम क्यों कुछ नहीं कर सकते हैं
यह भी हम समझते हैं।

खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, मुद्दे पर 'चिन्तन विचार मंच' द्वारा परिसंवाद का आयोजन

'खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश: पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष' पर 'चिन्तन विचार मंच' द्वारा परिसंवाद का आयोजन किया गया।

'चिन्तन विचार मंच' द्वारा किया गया यह दूसरा आयोजन था। इस आयोजन में विभिन्न कॉलेजों के छात्र-छात्राएँ, शिक्षक, कर्मचारी व नागरिक आदि शामिल हुए।

परिसंवाद की शुरुआत करते हुए 'नयी दिशा छात्र मंच' के शिवार्थ ने कहा कि संग्रह सरकार ने हाल ही में खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रस्ताव संसद में पेश किया था, जिसका भाजपा से लेकर सभी विपक्षी पार्टियों ने जमकर विरोध किया। इस विरोध में संसदीय वामपन्थी व सी.पी.आई.(एम.एल.) भी शामिल था। तमाम अखबारों, टी.वी. चैनलों पर इस मुद्दे का काफी गर्मागर्म बहसे भी हुई, जिसमें व्यापारिक संगठनों के पदाधिकारियों से लेकर आर्थिक मामलों के जानकार भी शामिल हुए। इस मुद्दे पर मुख्य चर्चाओं से इतर भी कुछ लोग सोच रहे हैं। जिसे साझा करने के लिए, एक राय कायम करने के

लिए इस विषय पर परिसंवाद का आयोजन किया गया है।

परिसंवाद में हस्तक्षेप करते हुए कथाकार प्रताप दीक्षित ने कहा कि 20 वर्षों से जारी निजीकरण-उदारीकरण की प्रक्रिया का एक और बढ़ा हुआ कदम होगा खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश। सत्ता में चाहे कोई पार्टी आये, वह भारतीय मार्केट में निवेश को बढ़ावा देगी। अब ऐसी स्थिति तैयार की जा रही है कि देशी व विदेशी दोनों लूटे-खायें। सवाल आज पूरी व्यवस्था पर खड़ा हो रहा है। व्यवस्था परिवर्तन के बिना

देशी-विदेशी पूँजीपतियों की लूट खत्म नहीं होगी। इसके बाद शिक्षक एवं लेखक एम.के.पंजम ने कहा कि जाँको का गुण होता है खून चूसना, वे देशी हों या विदेशी वे जनता का खून चूसेंगे जरूर। बी.बी.डी. इंजीनियरिंग कॉलेज की छात्रा नीलम ने देशी पूँजी के पक्ष में बात रखते हुए कहा कि एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत आकर यहाँ की धन-दौलत की अकूत लूट की, अब सारे विदेशी भारत क्यों आना चाहते हैं। उन्होंने विदेशी पूँजी की मंशा पर सवाल खड़ा करने के साथ स्वदेशी का समर्थन किया। परिसंवाद में 'नौजवान भारत सभा' के आशीष

ने अपनी बात रखते हुए कहा कि हम खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का विरोध कर रहे हैं लेकिन यह विरोध किस जमीन पर खड़े होकर किया जा रहा है यह देखना बहुत महत्वपूर्ण है।

भाजपा बहुत जोर से इसका विरोध कर रही है पर यह वही भाजपा पार्टी है, जिसने सन् 2002 में खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश करने की बात कही थी, और 2004 में अपने चुनावी घोषणापत्र में उसे लिखा भी। अब जब उन पर सवाल उठ रहे हैं तो भाजपा कह रही है कि यह तो गलती से हो गया था। यह है थूककर चाटने वाली बात। इनका विरोध दो कारणों से है। पहला कि इस पार्टी का मुख्य आधार खुदरा व्यापार में लगे अथवा मध्यम पूँजी के व्यापारियों में है। दूसरा पाँच राज्यों में होने वाला विधानसभा चुनाव। आज इस मुद्दे या इस तरह के कई मुद्दों पर दक्षिणपन्थी और संसदीय

वामपन्थी एक मंच पर नज़र आ रहे हैं तो आश्चर्य की बात नहीं। ये पार्टियाँ उस वक्त ऐसा क्यों नहीं कर रही थी जब देश की बड़ी पूँजी यहाँ के खुदरा व्यापार में आकर छोटी पूँजी को तबाह कर रही थी। यदि भाजपा सत्ता में आयेगी तो वह बड़ी पूँजी की ही सेवा करेगी छोटी पूँजी की नहीं। संसदीय वामपन्थी और सी.पी.आई.(एम.एल.) लिबरेशन जैसी पार्टियाँ छद्म राष्ट्रवाद की जमीन पर खड़े होकर विरोध कर रहे हैं। जिससे जनता के



चिन्तन विचार मंच द्वारा आयोजित परिसंवाद के दौरान बात रखते वक्तागण

बीच यह भ्रम पैदा होगा कि इसी व्यवस्था में हमें रहकर लड़ना है इसके परे नहीं। व्यापार कर विभाग के लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी ने कहा कि मैं एक उपभोक्ता के नजरिये से सरकार के इस प्रस्ताव के पक्ष में हूँ। इससे कोई भी एक जगह पर सस्ती व अच्छी चीजें प्राप्त कर सकेगा। वरिष्ठ नागरिक रामसरन ने कहा कि मैं सरकार के इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हूँ। उन्होंने कहा कि भारतीय बाज़ार एफ.डी.आई. के अनुकूल नहीं है। हमारे देश में मार्केट में व्याप्त भ्रष्टाचार (जमाखोरी, घटतौली आदि) को अच्छे क़ानून को लागू करके दूर किया जाये। 'स्टूडेण्ट फेडरेशन ऑफ इण्डिया' के प्रवीण ने कहा कि सरकार जो यह कह रही है विदेशी निवेश होने से रोज़गार बढ़ेगा वह केवल नाम मात्र का ही होगा इसके उलट खुदरा व्यापार में लगी 4 करोड़ की आबादी बेरोज़गार हो जायेगी। प्रवीण ने कहा कि जहाँ तक अच्छे व सच्चे माल मिलने की बात है उसमें होगा यह कुछ समय तक विदेशी कम्पनियाँ भले ही ऐसा करें, लेकिन जब वे भारत के बाज़ार पर मोनोपोली कर लेगी तो वे उत्पादकों व उपभोक्ताओं को अपनी शर्तों पर चलने को मजबूर कर देगी। आज हम उजड़ने वाले या भविष्य में उजड़ने वाले लोगों के बीच मुनाफ़ाखोर व्यवस्था को बेनकाब करने का व इसका विकल्प देने की बात नहीं करेंगे बल्कि हम उनके संघर्षों में उनके साथ खड़े होंगे। हमें देशी व विदेशी पूँजी के अन्तरविरोध को तीखा करने के लिए प्रयास करना चाहिए। प्रवीण की बात पर शिवार्थ ने कहा कि यही तर्क सारे संसदीय वामपन्थी भी दे रही है। यह मार्क्सवादी नजरिये के खिलाफ़ है। ये पार्टियाँ गेहुँअन साँप जैसी हैं। इनसे आम जनता को भारी नुकसान होगा। ये संसदीय वामपन्थी रिलायंस, बिग एप्पल जैसी देशी बड़ी पूँजी की मुखालफ़त नहीं करती या दिखाने भर को करती हैं और विदेशी पूँजी के विरोध में अगिया-बैताल जैसे रुख दिखाती हैं। क्योंकि इनका वर्ग आधार भी टुटपुँजिया पूँजीपति वर्ग है, जो कि उनसे ज़्यादा भरोसा वह भाजपा जैसी पार्टियों पर करता है। उन्होंने आगे कहा कि वैसे तो एकल ब्राण्ड कम्पनी के लिए खुदरा व्यापार में 54 प्रतिशत की छूट सरकार पहले ही दे चुकी है जिसे बढ़ाकर 75 प्रतिशत करने का विचार सरकार कर रही है और भी कई तरीकों से विदेशी पूँजी भारत के खुदरा व्यापार में काम कर रही है। शिवार्थ ने आगे कहा कि पूँजी की गति का नियम है कि बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगल जायेगी। हम भी सरकार के प्रस्ताव का विरोध करेंगे और उजड़ती आबादी के संघर्ष में साथ देंगे परन्तु उन्हें इस भ्रम में नहीं रखेंगे कि इस लड़ाई से उनकी तबाही रूक जायेगी। उन्हें फलने-फूलने का मौका यह मुनाफ़ाखोर व्यवस्था देने से रही। उन्हें यह भी बतायेंगे कि निजी सम्पत्ति पर आधारित, मुनाफ़ाखोर व्यवस्था को बदल करके जबतक जनता के सामूहिक मालिकाने की व्यवस्था कायम नहीं होगी तब तक छोटी पूँजी के मालिक हो या गरीब किसान, मजदूर उनकी तबाही नहीं रुकेगी। परिसंवाद में लालचन्द्र, पंकज, आशुतोष व मेडिकल कॉलेज के छात्र मानवेन्द्र आदि लोगों ने बड़-चढ़कर भागीदारी की।

मोन्ताज फिल्म सोसाइटी द्वारा फिल्म प्रदर्शन

दिल्ली विश्वविद्यालय में मोन्ताज फिल्म सोसाइटी द्वारा यूनिवर्सिटी स्टूडेण्ड एक्टीविटी सेण्टर में जनवरी माह में प्रसिद्ध यूनानी फिल्मकार कोस्ता गावरास की फिल्म 'ज़ेड' तथा फरवरी माह की शुरुआत में डॉक्यूमेण्टरी फिल्मकार गौहर रज़ा की एक डॉक्यूमेण्टरी 'जुल्मतों के दौर में' का प्रदर्शन किया गया। ये दोनों ही फिल्में फ़ासीवाद के ख़तरों व इसके स्रोतों को ढूँढती हैं।

13 जनवरी को प्रदर्शित की गई यह फिल्म दक्षिणपंथी राजनीति को गंगा करती है। यह फिल्म दिखाती है कि किस तरह दक्षिणपंथी राजनीति की पैठ राज्य मशीनरी के भीतर होती है तथा हर प्रगतिशील आवाज को कुचलने के लिये पुलिस और सेना का इस्तेमाल होता है। यह फिल्म यूनान में 1963 में प्रख्यात वामपंथी त्रिगोरिस लैम्बारकिस के हत्याकाण्ड पर आधारित है।

फिल्म के बाद स्त्री मुक्ति लीग की शिवानी ने फ़ासीवाद के भारतीय संस्करण पर बात रखी। उन्होंने बताया कि भारत में भी सेना, पुलिस, जज, मंत्रियों के बीच संधियों की पहुँच है जो 'बात बिगड़ने पर' जनता को अपने खाने के दौँत दिखा सकते हैं। फिल्म के बाद मंच व दर्शकों की दूरी को खत्म कर एक सकर्मक विमर्श का दौर चला, जिसमें 25-30 लोगों ने भाग लिया व अपने सुझाव रखे तथा व्यावहारिक कदमों पर बात की।

बर्टोल्ट ब्रेष्ट के जन्मदिवस (10 फरवरी) पर मोन्ताज फिल्म सोसाइटी द्वारा गौहर रज़ा की फिल्म 'जुल्मतों के दौर में' का प्रदर्शन हुआ। यह फिल्म बर्टोल्ट ब्रेष्ट की कविताओं के जरिये जर्मनी में फ़ासीवाद के उदय को दर्शाती है। दिशा छात्र संगठन के सनी ने कार्यक्रम शुरू करते हुये बताया कि हिटलर और फ़ासीवाद का उदय पूँजीवाद के संकट के कारण हुआ, पूँजीवादी संकट के दो विकल्प हो सकते हैं समाजवाद या बर्बरता। सामाजिक जनवादियों का सुधारवाद तथा संशोधनवाद फ़ासीवाद की बैसाखी बन जाता है। भारत में भी फ़ासीवाद की जड़ें जम चुकी हैं, इन्हें एक सही क्रान्तिकारी ताकत ही उखाड़ सकती है। विहान की टोली ने ब्रेष्ट का गीत 'सभी अफसर उनके' प्रस्तुत किया। फिल्म के बाद सकर्मक विमर्श में करीब 15 लोगों ने हिस्सा लिया।

बर्टोल्ट ब्रेष्ट के जन्मदिवस पर नौजवान भारत सभा द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन

10 फरवरी को जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककार तथा सांस्कृतिकर्मी बर्टोल्ट ब्रेष्ट के 114वें जन्मदिवस पर 'नौजवान भारत सभा' के द्वारा एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। कार्यक्रम के अन्तर्गत ब्रेष्ट व कई अन्य क्रान्तिकारी धारा के अन्य कवियों की कविताओं का पाठ किया गया तथा गौहर रज़ा की प्रसिद्ध डॉक्यूमेण्टरी फिल्म 'जुल्मतों के दौर में' का प्रदर्शन भी किया गया।

कार्यक्रम का आयोजन दिल्ली में करावलनगर के शहीद भगतसिंह पुस्तकालय में किया गया। करीब 45 से 50 लोग लगातार कार्यक्रम में उपस्थित रहे। अध्यापकों, नागरिकों, छात्रों के साथ-साथ कई वरिष्ठ संस्कृतिकर्मी भी उपस्थित रहे। सबसे पहले जाने-माने चित्रकार हरिपाल त्यागी द्वारा बनाई ब्रेष्ट के तैल चित्र पर नन्ही साक्षी ने माल्यापण किया। कार्यक्रम का संचालन नौभास के योगेश ने किया। योगेश ने बताया कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसने पूरी मानवता की मुक्ति का सपना देखा तथा संघर्ष किया वह पूरी मानवता की ही साझी विरासत हैं। उन्होंने बताया कि ब्रेष्ट वास्तव में ही कारणों की तलाश करने वाले कवि तथा नाटककार थे। शुरुआत करते हुए अरविन्द ने 'ब्रेष्ट का जीवन तथा आज का समय' विषय पर बोलते हुए बताया कि ब्रेष्ट अपने पूरे जीवन में अंधेरे से जूझते रहे, निर्वासन पर निर्वासन झेलते रहे लेकिन उन्होंने लगातार पूँजीवाद की अमानवीयता तथा कलाद्रोही प्रवृत्ति व अन्तर्वस्तु को उघाड़कर रख दिया। ब्रेष्ट की रचनाओं में फासीवाद व इसके कारणों की न केवल शिनाख्त

की गई बल्कि उन्होंने सिखाया की फासीवाद से क्यों घृणा की जानी चाहिए। ब्रेष्ट स्वयं ही फासीवाद तथा युद्ध के कहर के भुक्तभोगी थे। आज के समय में जिस प्रतिक्रिया के दौर से पूँजीवाद गुज़र रहा है, वह केवल पतित संस्कृति ही पैदा कर सकता है। जिस मन्दीग्रस्त पूँजीवाद के कारण जर्मनी में फासीवाद का उदय हुआ था वही जमीन भारत तथा विश्वभर में आज फिर से मौजूद है। धर्म, जाति तथा संस्कृति के झण्डाबदार बगुला भगत बनकर शिकार करते घूम रहे हैं। जनता को इनके खिलाफ लगातार जागरूक करने की ज़रूरत है।

इसके बाद युवा संस्कृतिकर्मी आशुतोष ने ब्रेष्ट की कई प्रसिद्ध कविताओं - 'सचमुच में अंधेरे दौर में जी रहा हूँ', 'जनरल तुम्हारा टैंक एक मजबूत वाहन है' व 'आने वाली पीढ़ियों के लिए' का पाठ किया। इसके बाद वरिष्ठ कवि व साहित्यकार सुरेन्द्र श्लेष ने भी साम्प्रदायिक दंगों को उजागर करती हुई अपनी कविता 'जब से कर्पूरु लगा शहर में-दहशत

आ बैठी घर में' तथा 'कल्ल होता रहा-राम सोता रहा-इस तरह धर्म का काम होता रहा' का पाठ किया।

अलाव पत्रिका के सम्पादक तथा वरिष्ठ कवि व

साहित्यकार रामकुमार कृषक ने भी अपनी बात रखी तथा कविता पढ़ी जिसके बोल थे-'साल आता रहा-साल जाता रहा'। उन्होंने बताया कि अंधेरे के इस दौर में सर्वहारा के ऐसे रचनाकारों को याद करना बेहद जरूरी है। प्रसिद्ध चित्रकार हरिपाल त्यागी ने भी कार्यक्रम की सराहना की। युवा साथियों के द्वारा भी कविताएं पढ़ी गईं। सनी ने 'बेचारे बटोल्ड ब्रेष्ट के बारे में' कविता पढ़ी। नवीन ने भी गोरख पाण्डेय की प्रसिद्ध कविता 'सोचो तो' का पाठ किया। इसके बाद फिल्म 'जुल्मतों के दौर में' का प्रदर्शन किया गया। यह फिल्म अपने आप में ही फासीवाद के उभार की एक ज्वलन्त तस्वीर पेश करती है। नौभास के सदस्य ज्ञानेन्द्र ने फिल्म के बारे में बताया; उन्होंने फिल्म के रूप व अर्न्तवस्तु दोनों पर चर्चा की। ज्ञानेन्द्र ने मनबहकी लाल द्वारा ब्रेष्ट की एक रूपान्तरित कविता 'हम राज करें, तुम राम भजो!' का पाठ किया। इसके नौभास के सदस्यों द्वारा ब्रेष्ट

के ही गीत 'वो सबकुछ करने को तैयार -सभी अफसर उनके' का सामूहिक गान किया गया। कार्यक्रम की समाप्ति आशुतोष के गीत 'हम लड़ेंगे साथी-हम लड़ेंगे साथी' से की गई। इलाके के नागरिकों, अध्यापकों ने कार्यक्रम काफी सराहा।

“जब तक लोग अपनी स्वतन्त्रता का इस्तेमाल करने की ज़हमत नहीं उठायेंगे, तब तक तानाशाहों का राज चलता रहेगा; क्योंकि तानाशाह सक्रिय और जोशीले होते हैं, और वे नींद में डूबे हुए लोगों को ज़ीरो में जकड़ने के लिए ईश्वर, धर्म या किसी भी दूसरी चीज़ का सहारा लेने में नहीं हिचकेंगे।”

-वॉल्टेयर

विकल्प की राह खोजते लोग और नये विकल्प की समस्याएँ

(पेज 8 से जारी)

क्रान्तियों को आवश्यकता पड़ेगी। चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अभी चल ही रही थी कि 1976 में माओ की मृत्यु हो गयी। पार्टी के भीतर पूँजीवादी पथगामियों की पराजय अभी पूर्ण नहीं हुई थी, हालाँकि सांस्कृतिक क्रान्ति ने उन्हें काफी कमजोर कर दिया था। माओ की मृत्यु के बाद कई महीनों तक पार्टी में एक ज़बर्दस्त संघर्ष जारी रहा जिसमें अन्ततः कुछ मध्यमार्गियों और उदारवादियों के कारण पूँजीवादी पथगामियों की विजय हुई। माओ की लाइन का प्रतिनिधित्व करने वाले चार नेताओं को संशोधनवादियों ने गिरफ्तार कर लिया और जेल में डाल दिया। उनके खिलाफ पूरे देश में माओ-विरोधी षड्यन्त्रकारी होने का प्रचार किया गया। पार्टी के भीतर मौजूद ईमानदार कार्यकर्ताओं का बड़ा हिस्सा भी इन परिवर्तनों को उस समय सही ढंग से समझ नहीं पाया। इसमें भी मध्यमार्गियों की काफी बड़ी भूमिका थी। अन्ततः दंग सियाओ पिंग के नेतृत्व में सर्वहारा सत्ता का तख्तापलट हो गया और 1978 आते-आते संशोधनवादियों ने अपनी विजय को सुदृढ़ कर लिया। लेकिन माओ के नेतृत्व में चली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के ही कारण आज तक चीन के संशोधनवादी सत्ताधारी चैन से नहीं बैठ सके हैं। हर वर्ष ही चीन में माओवादियों का दमन, गिरफ्तारी, हत्याएँ होती हैं; मजदूर बार-बार सड़कों पर उतरते हैं; चीन की सामाजिक फासीवादी सत्ता के खिलाफ छात्र-युवा जब-तब आन्दोलन की राह लेते हैं। 1989 में तियेनामेन चौक पर हुए आन्दोलन में भी जो ताकतें सक्रिय थीं, उनमें से कुछ छात्र-युवा ऐसे थे जो चीन की गैर-जनवादी संशोधनवादी सामाजिक जनवादी सत्ता के दमनकारी रवैये का विरोध कर रहे थे और जनवादी स्पेस की माँग कर रहे थे लेकिन मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा और छात्रों का भी एक हिस्सा दंग सियाओ पिंग के “बाज़ार समाजवाद” और माओ के समाजवादी चीन की क्रान्तिकारी संस्थाओं के व्यवस्थित ध्वंस का विरोध कर रहा था। **जो भी हो, एक महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति किसी भी रूप में चीन में समाजवादी प्रयोग की उत्तरजीविता को सुनिश्चित नहीं कर सकती थी। माओ पहले से ही इस बात को समझते थे और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को एक सतत् जारी प्रक्रिया के रूप में देखते थे, न कि एक कदम या घटना के रूप में। वह प्रक्रिया पहले प्रयास में ही जारी रहने में सफल होती इस बात की कोई गारण्टी वैज्ञानिक तौर पर नहीं की जा सकती थी। अपनी अपूर्णताओं और असफलताओं के बावजूद महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का पहला प्रयोग समाजवाद की समस्याओं और उनके समाधान के**

बारे में सर्वहारा वर्ग की समझदारी को विकसित कर गया। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त मार्क्सवाद के विज्ञान का सबसे उन्नत विकास है और इक्कीसवीं सदी में सर्वहारा क्रान्तिकारी इसे समझे बगैर न तो क्रान्ति के पहले पूँजीवाद का मुकाबला कर सकते हैं, और न ही क्रान्ति के बाद उसके षड्यन्त्रों से सर्वहारा सत्ता की हिफाज़त कर सकते हैं। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अवदानों को निश्चित रूप से एक छोटे-से आलेख में पूरी तरह से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त एक बन्द सिरे वाला सिद्धान्त नहीं है और ऐसा नहीं कि इसे आगे विकसित होने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस सिद्धान्त ने समाजवाद की समस्याओं को समझने और उन्हें हल करने में सिर्फ एक दरवाज़ा खोला है। यह सही दिशा में सही अप्रोच और सही पद्धति के साथ सोचने की महज़ एक शुरुआत है।**

पूँजीवाद का अन्तकारी संकट और विकल्प की चुनौतियाँ

एक बात स्पष्ट है कि बीसवीं सदी की सर्वहारा क्रान्तियों की सफलताओं-असफलताओं, पूर्णताओं-अपूर्णताओं, शक्तियों-कमज़ोरियों को समझे बगैर हम इक्कीसवीं सदी में पूँजीवाद का विकल्प देने की बात नहीं कर सकते। लेकिन आज ऐसा ही किया जा रहा है। विश्व पूँजीवाद एक अभूतपूर्व रूप से गम्भीर संकट से ग्रस्त है। 1930 के दशक की महामन्दी के दौरान अभी इज़ारेदार पूँजीवाद अपनी सन्तृप्ति बिन्दु पर नहीं पहुँचा था। अभी विश्व का बड़ा हिस्सा पूँजी की जकड़ में पूरी तरह से नहीं आया था; औपनिवेशिक दुनिया के समाजों के पोर-पोर में अभी पूँजी नहीं समाई थी। 1940 से 1970 के दशक तक चली विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया, देशों के आज़ाद होने, राष्ट्रीय प्रश्न के हल होने, द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद पूरे साम्राज्यवाद के ढाँचे, रणनीति और आम कार्यनीति में कुछ बुनियादी बदलाव आये हैं। वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व आज लेनिन के काल से कहीं ज़्यादा है; पूँजी पहले हमेशा के मुकाबले ज़्यादा परजीवी, सट्टेबाज़, अनुत्पादक, मरणासन्न हुई है। विश्व पूँजीवादी तन्त्र पहले से कहीं ज़्यादा खोखला, कमज़ोर और बीमार हुआ है। अपनी तमाम सैन्य शक्तिमत्ता के बावजूद साम्राज्यवाद अपने ही अन्दरूनी संकटों से भयंकर उथल-पुथल में है। भूमण्डलीकरण के दौर में, विश्व पूँजीवाद के पास न तो उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ शेष हैं और न ही वित्तीय पूँजी के जुए के लिए पर्याप्त अवसर बचे

हैं। अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता के बोझ तले पूँजीवाद का ढाँचा चरमरा रहा है। लेकिन इन सबके बावजूद पूँजीवाद अपने आप इतिहास के नेपथ्य में नहीं जाने वाला। उसे इतिहास के कचरा पेटी में पहुँचाने के लिए एक अभिकर्ता, एक सक्रिय शक्ति की जरूरत है, जिसके पास पूरी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, समाज, राजनीति और संस्कृति का एक स्पष्ट विकल्प हो।

मार्क्सवाद के अतिरिक्त कोई भी ऐसी विचारधारा नहीं है जिसने पूँजीवाद के विकल्प का एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक खाका पेश किया हो। पूँजीवाद को ही अधिक मानवीय बनाने और उसमें कुछ सुधार और पैबन्दसाजी करने वाली तमाम विचारधाराएँ सामने आयीं और एक-एक करके विस्मृति के गर्भ में समा गयीं। पूँजीवाद के अस्तित्व के हर बीतते दिन के साथ ऐसी सभी विचारधाराएँ अपनी अप्रासंगिकता को और स्पष्ट रूप से अनावृत्त करती जा रही हैं।

लेकिन मजदूर वर्ग का आन्दोलन पूरी दुनिया में आज एक गहरे संकट का शिकार है और उसके पुनरुत्थान के लिए कई चुनौतियाँ मौजूद हैं। ऐसे अधिकांश देशों में, जो आने वाले समय की सर्वहारा क्रान्तियों का झंझा-केन्द्र बनने वाले हैं, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी अतीत की क्रान्तियों से आलोचनात्मक रूप से सीखने की बजाय उनका

अन्धानुकरण करने की मनोवृत्ति का शिकार हैं। इनमें से भी अधिकांश ऐसे हैं जो चीन में माओ के नेतृत्व में हुई नवजनवादी क्रान्ति को अपने-अपने देशों में दुहराना चाहते हैं। 1963 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय स्थिति पर अपनी अवस्थिति रखते हुए कहा था कि आम तौर पर 'तीसरी दुनिया' के देशों में, जिनमें प्रत्यक्ष औपनिवेशिक नियन्त्रण वाले देश और अप्रत्यक्ष साम्राज्यवादी नियन्त्रण वाले नवस्वाधीन देश शामिल थे, नवजनवादी क्रान्ति होगी क्योंकि इन देशों में अर्द्धऔपनिवेशिक अर्द्धसामन्ती या औपनिवेशिक अर्द्धसामन्ती सामाजिक संरचनाएँ हैं और जिन नवस्वाधीन देशों में वहाँ का पूँजीपति वर्ग सत्ता में आया है, वह आम तौर पर साम्राज्यवाद का दलाल है और देशी सामन्तवाद के साथ समझौतापरस्त रुख रखने वाला है। यह एक आम दिशा-निरूपण था, जिसके सही और ग़लत होने पर बहस हो सकती है। कई देशों में उस समय वाकई ऐसी या इससे मिलती-जुलती स्थिति थी। लेकिन भारत में तब भी ऐसी स्थिति थी या नहीं, इस पर सवाल खड़ा किया जा सकता है। लेकिन, जो भी हो, तब से लेकर 1990 के दशक

तक जब आखिरी उपनिवेश भी आज़ाद हो गया, पूरी दुनिया के ढाँचे में बहुत बदलाव आ चुका है। राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न पूरी तरह से हल हो चुका है; विश्व पूँजीवाद भूमण्डलीकरण के दौर में प्रविष्ट हो चुका है; अपेक्षाकृत कम विकसित और विकासशील देशों में, जो कि साम्राज्यवादी नहीं हैं, जो बुर्जुआ वर्ग सत्तासीन है वह किसी भी रूप में दलाल पूँजीपति वर्ग की भूमिका नहीं निभा रहा है; इन देशों की सामाजिक संरचना में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति स्पष्ट रूप से सबसे प्रभावी और प्रमुख उत्पादन पद्धति है। इसलिए ये देश अर्द्धसामन्ती और अर्द्धऔपनिवेशिक देश नहीं हैं। ये पिछड़े किन्तु पूँजीवादी देश हैं जहाँ का पूँजीपति वर्ग न तो राष्ट्रीय है (क्योंकि उसका

“...अधिकांश ‘तीसरी दुनिया’ के देशों में मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी नवजनवादी क्रान्ति, दीर्घकालिक लोकयुद्ध और अर्द्धऔपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती विश्लेषण को विचारधारा का प्रश्न मान बैठे हैं, जो कि वास्तव में क्रान्ति के कार्यक्रम का सवाल है, जिसे बदलती परिस्थितियों के साथ क्रान्तिकारियों को बार-बार उन्नत करना पड़ता है, बदलना पड़ता है और संशोधित करना पड़ता है। कार्यक्रम को विचारधारा का प्रश्न बना देने के चलते इस सवाल पर उन्होंने सोचने-समझने के दरवाज़े ही बन्द कर दिये हैं और यह कट्टरपंथी मार्क्सवाद उनके लिए विश्लेषण के वैज्ञानिक उपकरण की बजाय सोचने का विकल्प बन गया है!”

जनता के साथ कुछ भी साझा नहीं है) और न ही दलाल है (क्योंकि वह राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र है और बहुध्रुवीय विश्व में पूरे साम्राज्यवाद पर आर्थिक और तकनोलॉजिकल निर्भरता रखते हुए भी, वह किसी एक साम्राज्यवादी देश का दलाल नहीं है)। इन देशों का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की भूमिका में है और उसके साथ नत्थी होकर अपने देश की जनता की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लूट में लगा हुआ है। यह मार्क्सवाद की किसी किताब में नहीं लिखा है कि बुर्जुआ वर्ग या तो

साम्राज्यवादी होगा, या राष्ट्रीय और या फिर दलाल! लेकिन एक टिकाऊ सर्वहारा क्रान्ति की सम्भवाएँ रखने वाले अधिकांश 'तीसरी दुनिया' के देशों में मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी नवजनवादी क्रान्ति, दीर्घकालिक लोकयुद्ध और अर्द्धऔपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती विश्लेषण को विचारधारा का प्रश्न मान बैठे हैं, जो कि वास्तव में क्रान्ति के कार्यक्रम का सवाल है, जिसे बदलती परिस्थितियों के साथ क्रान्तिकारियों को बार-बार उन्नत करना पड़ता है, बदलना पड़ता है और संशोधित करना पड़ता है। कार्यक्रम को विचारधारा का प्रश्न बना देने के चलते इस सवाल पर उन्होंने सोचने-समझने के दरवाज़े ही बन्द कर दिये हैं और यह कट्टरपंथी मार्क्सवाद उनके लिए विश्लेषण के वैज्ञानिक उपकरण की बजाय सोचने का विकल्प बन गया है! यही वह सबसे बड़ी समस्या है जिसका सामना आज विश्व भर में कम्युनिस्ट आन्दोलन कर रहा है। आज स्पष्ट रूप से नवजनवादी क्रान्ति के सिद्धान्त के इस ढाँचे-खाँचे को तोड़कर बाहर आने की जरूरत है और अपने देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण

करने की ज़रूरत है। इसके बिना कम्युनिस्ट आन्दोलन जिस संकट का शिकार है, उसका कोई हल नहीं निकल सकता।

यह समस्या तो कम्युनिस्ट आन्दोलन की अन्दरूनी समस्या है। इसके अलावा, मार्क्सवाद पर पूँजीवादी मीडिया, सांस्कृतिक और बौद्धिक उपकरण भी लगातार नये हमले कर रहे हैं, मार्क्सवादियों को अन्दर से तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं, तमाम किस्म के रंग-बिरंगे 'रैडिकल' बुद्धिजीवियों को अपने वर्चस्वकारी मैकेनिज़्म के जरिये सहज गति से पैदा कर रहे हैं, जो मार्क्सवाद पर जाने-अनजाने हमले कर रहे हैं। सूचना तकनीक की क्रान्ति के इस दौर में पूँजीवाद ने अपने मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को टी.वी., इण्टरनेट, आदि के जरिये और अधिक गहरा बनाया है। यह सच है कि ये सभी माध्यम क्रान्तिकारी शक्तियों को भी पूँजीवादी विचारधारा के वर्चस्व के 'सबवर्जन' का अवसर देते हैं (यही कारण है कि चीन के संशोधनवादी सत्ताधारियों को कई वेबसाइटों को ब्लॉक करना पड़ा है, जिनमें से कई माओ के विचारों के प्रचार का काम कर रही थीं)। लेकिन आज अपने विचारधारात्मक बचकानेपन के कारण अधिकांश मामलों में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियाँ इस हालत में हैं ही नहीं कि पूँजीवाद के विचारधारात्मक वर्चस्व को पलट सकें! इण्टरनेट और टेलीविज़न के बाहर भी एक

पूरा क्रान्तिकारी वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत है जो पूँजीवादी मूल्यों को उत्पादित-पुनरुत्पादित करने, पूँजीवाद के पक्ष में सहमति को 'मैन्यूफैक्चर' करने की पूरी प्रक्रिया में विघ्न और बाधाएँ पैदा करता रहे। इन अर्थों में क्रान्तिकारी ताकतों को अपने वैकल्पिक मीडिया का ढाँचा खड़ा करना होगा। इस विषय पर हम यहाँ अधिक विस्तार में नहीं जा सकते।

मार्क्सवाद को नये बहेतू दार्शनिकों की "चुनौती" और उनका इतिहास-भूगोल

एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के सामने कोई संकट नहीं है। मार्क्सवाद पर जो भी हमले किये जा रहे हैं, उनके नाम नये हो सकते हैं लेकिन उनकी अन्तर्वस्तु में कुछ भी नया नहीं है। उत्तरआधुनिकतावाद, उत्तरसंरचनावाद, प्राच्यवाद, उत्तर-प्राच्यवाद, सबऑल्टर्निज़्म आदि की "चुनौतियाँ" धूल-धूसरित हो चुकी हैं। अकादमिक दुनिया तक में आज मार्क्सवाद की 'वापसी' की बात हो रही है (हालाँकि, जिस

चीज़ की वापसी हो रही है, उसमें कितना मार्क्सवाद है और कितना नहीं, यह एक बहस का मसला है!)। कम-से-कम 'उत्तर-' विचार सरणियों कोमा में पड़ी आखिरी साँसें गिन रही हैं। लेकिन सट्टेबाज़ रैडिकल "दार्शनिकों" के रूप में एक नयी धारा है, जो मार्क्सवाद पर हमला बोल रही है। इनमें एलेन बेदियू, स्लावोज़ जिज़ेक, एण्टोनियो नेग्री, माइकल हार्ट, याक्स रेंसिये, आदि जैसे बहेतू दार्शनिक शामिल हैं। इन्हें हम यँ ही सट्टेबाज़ और बहेतू दार्शनिक नहीं बोल रहे हैं। ये वाकई बहेतू और सट्टेबाज़ हैं! इनमें से अधिकांश एक नये किस्म के कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं! एक ऐसा कम्युनिज़्म जो मार्क्सवादी नहीं होगा! इनका मानना है कि कम्युनिज़्म एक निरपेक्ष सत्य है जिसकी निरपेक्ष

"इन्हें हम यँ ही सट्टेबाज़ और बहेतू दार्शनिक नहीं बोल रहे हैं। ये वाकई बहेतू और सट्टेबाज़ हैं! इनमें से अधिकांश एक नये किस्म के कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं! एक ऐसा कम्युनिज़्म जो मार्क्सवादी नहीं होगा! इनका मानना है कि कम्युनिज़्म एक निरपेक्ष सत्य है जिसकी निरपेक्ष यात्रा प्राचीन काल से ही चल रही है और प्लेटो, रूसो, जैकोबिन दल, और बीसवीं सदी का मार्क्सवादी कम्युनिज़्म इस निरपेक्ष यात्रा के अलग-अलग सापेक्ष बिन्दु हैं और अब हम उन बिन्दुओं को पीछे छोड़ आये हैं"

यात्रा प्राचीन काल से ही चल रही है और प्लेटो, रूसो, जैकोबिन दल, और बीसवीं सदी का मार्क्सवादी कम्युनिज़्म इस निरपेक्ष यात्रा के अलग-अलग सापेक्ष बिन्दु हैं और अब हम उन बिन्दुओं को पीछे छोड़ आये हैं; अब कम्युनिज़्म की यह निरपेक्ष यात्रा पार्टी और राज्य को अप्रासंगिक बना चुकी है और उससे आगे आ चुकी है; हालाँकि वर्ग को अप्रासंगिक नहीं बताया जाता लेकिन इन महानुभावों के लेखन में कहीं भी वर्ग, राजसत्ता का वर्ग चरित्र, जैसी पुरानी पड़ चुकी बातें नहीं

आतीं (श्रीमान बेदियू)! पूँजीपति वर्ग की बजाय ये दमनकारी शासक (दि रूलर्स) और सर्वहारा वर्ग की जगह बहुसंख्या (दि मल्टिट्यूड) शब्द का इस्तेमाल बहुत पसन्द और चाव के साथ करते हैं; पूँजी, उत्पादन, आदि की जगह ये साज़ा (कॉमंस) की बात करना पसन्द करते हैं (श्रीमान नेग्री व श्रीमान हार्ट, तथा श्रीमान जिज़ेक भी)! कुछ ऐसे हैं जो मार्क्सवादी कम्युनिज़्म के आगे जाने का भी दावा नहीं करते, और उसे मानने का भी दावा नहीं करते; न तो वे राज्य और पार्टी की ज़रूरत के बारे में कुछ साफ़ कहते हैं; सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में भी हर वर्ष वे नियम से अवस्थिति बदलते हैं; लेकिन इतना वे ज़रूर कहते हैं कि बीसवीं सदी के मार्क्सवादी कम्युनिज़्म का अन्त एक विपदा/दुर्गति में हुआ और एक नये किस्म के कम्युनिज़्म की ज़रूरत है और इसके बाद वे वही गाना गाते हैं जो श्रीमान बेदियू व श्रीमान नेग्री तथा श्रीमान हार्ट गाते हैं (श्रीमान जिज़ेक)! कुछ इन सब बातों में यह जोड़ देते हैं कि सर्वहारा वर्ग/दमित वर्ग/अधीनस्थ वर्ग को किसी नेतृत्व या पार्टी की आवश्यकता नहीं है; वे दमित की "स्वशिक्षा" के पक्षधर हैं और कहते हैं आज की ज़रूरत मार्क्सवाद से ज़्यादा

रैडिकल सोच की है, क्योंकि मार्क्सवाद स्वयं सत्तावादी, दमनकारी और अपचयनवादी है (श्रीमान रैसिये)! इसके अलावा कुछ ऐसे हैं जिन्होंने हर प्रकार की सार्वभौमिकता का हन्ता बनने की ठान रखी है और कह रहे हैं कि सार्वभौमिकता, निरपेक्षता, सामान्यता की सभी बातें वास्तव में दमनकारी होती हैं; इसलिए हमें खण्डों की हिफाजत में तन-मन-धन से लग जाना चाहिए; यानी कि, वर्ग जैसी अवधारणाएँ, सर्वहारा वर्ग की एकता जैसी अवधारणाएँ ही दमनकारी हैं और हमें टुकड़ों का जश्न मनाना चाहिए (सुश्री जुडित बटलर, श्रीमान लाक्लाऊ व श्रीमान माउफ)! और अन्त में कुछ ऐसे हैं जिन्होंने बिना सत्ता को चकनाचूर किये और बिना एक नयी क्रान्तिकारी सत्ता स्थापित किये ही, क्रान्ति कर डालने के ऊपर दस-दस, बारह-बारह थीसीज़ लिख मारी है (श्रीमान जॉन हॉलोवे)!

अब शायद आप समझ गये होंगे कि हमने इन “दार्शनिकों” को सट्टेबाज़ और बहेतू दार्शनिक क्यों कहा है! इनकी कोई धुरी नहीं है। इनके इरादों पर बात न करते हुए इनकी सोच के केन्द्र-बिन्दुओं पर बात करते हैं। आप अगर गौर करें तो पाएँगे कि तमाम रैडिकल तेवर, गर्मा-गर्म बातों और नये किस्म की क्रान्ति का पक्ष रखने के दावों के बावजूद इनका निशाना

एकदम ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का निर्माण करती हैं। मिसाल के तौर पर, वर्ग की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा, वर्ग के हिरावल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा, पूँजी की अवधारणा, अलगाव और शोषण की अवधारणा, आदि। ये बहेतू दार्शनिक या तो इन अवधारणाओं को नकार देते हैं या उन्हें विकृत कर देते हैं। इनकी छद्म दार्शनिक जालसाज़ियों को समझना हो तो इनका दार्शनिक और राजनीतिक स्रोत देखना होगा। वास्तव में, इनमें से अधिकांश का स्रोत वही है जो कि उत्तर-आधुनिकतावादी विचार सरणियों का था—यानी, मई 1968 का आन्दोलन जिसका केन्द्र पेरिस था। सोवियत साम्राज्यवाद के पूर्वी यूरोप में किये गये हस्तक्षेप और पूर्वी यूरोप की छद्म समाजवादी देशों में जनता का अनुभव 1960 के दशक में सोवियत समाजवाद के प्रति पूर्वाग्रहों का कारण बना। यूरोप में और विशेषकर फ्रांस में तमाम ऐसे राजनीतिक और दार्शनिक चिन्तक थे, जिनकी विचारधारात्मक शुरुआत एक मार्क्सवादी के रूप में हुई थी, लेकिन बाद में सोवियत साम्राज्यवाद के अनुभव के कारण उनका मोहभंग मार्क्सवाद से ही हो गया क्योंकि वे क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और

संशोधनवाद के बीच फर्क नहीं कर पाये। साथ ही उसी समय चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति भी जारी थी, जिसे यूरोप में बहुतों ने ‘पार्टी के विरुद्ध क्रान्ति’ समझा! कुल मिलाकर, नतीजा यह हुआ कि ये तथाकथित ‘नव दार्शनिक’ (न्यू फिलॉसफर्स) सारी बुराई की जड़ पार्टी और सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त का समझने लगे। इनमें से कुछ मार्क्सवाद को सत्तावादी, दमनकारी आदि कहते हुए उत्तरआधुनिकतावाद की ओर चले गये, जैसे कि मिशेल फूको, याक्स देरीदा, आदि। कुछ ऐसे थे जो कि नये किस्म के मार्क्सवाद की बातें करने लगे! इनमें से अधिकांश पर अल्थूसर, अलेक्सान्द्र कोखीवे और याक्स लकाँ का प्रभाव था और कई तो अल्थूसर के छात्र थे। अल्थूसर ने फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवाद सोवियत संशोधनवाद पर समझौतापरस्त अवस्थिति अपनायी, जिसके कारण उनके कई छात्र उनके प्रभाव से मुक्त हो गये, जैसे कि याक्स रैसिये, एतियन बालीबार, फूको आदि। लेकिन इनमें से अधिकांश अल्थूसर की ग़लती को मार्क्सवाद की ग़लती समझ बैठे। इसी दार्शनिक भ्रम-विभ्रम की भट्ठी से, नीत्शे, स्पेंगलर, डेनियल बेल, आरों, रोस्तोव आदि के प्रभावों को लेकर उत्तर-आधुनिकतावाद का

“आप अगर गौर करें तो पाएँगे कि तमाम रैडिकल तेवर, गर्मा-गर्म बातों और नये किस्म की क्रान्ति का पक्ष रखने के दावों के बावजूद इनका निशाना एकदम ठीक वे अवधारणाएँ हैं जो मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु का निर्माण करती हैं। मिसाल के तौर पर, वर्ग की अवधारणा, सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा, वर्ग के हिरावल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा, पूँजी की अवधारणा, अलगाव और शोषण की अवधारणा, आदि। ये बहेतू दार्शनिक या तो इन अवधारणाओं को नकार देते हैं या उन्हें विकृत कर देते हैं।”

जन्म हुआ। और आज के जिन दार्शनिकों को हम बहेतू और सट्टेबाज़ दार्शनिक कह रहे हैं उनकी गंगोत्री भी मई 1968 का भ्रमग्रस्त पेरिस ही है। सही मायनों में कहीं तो उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रत्यक्ष हमलों के चुक जाने के बाद, उत्तर-आधुनिकतावाद का विरोध करने का स्वाँग रचते हुए सट्टेबाज़ और बहेतू दार्शनिकों के दार्शनिक खानाबदोशी ने वास्तव में फिर से मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को ही निशाना बनाया है। इनके शब्द अलग हैं; उत्तर-आधुनिकतावाद जिस नंगई से पूँजीवाद की अन्तिम विजय, कोई विकल्प न होने, पहचान की राजनीति के समर्थन, आदि की बात करता था, अब वैसा करना अपना मज़ाक उड़वाने जैसा होगा। इसलिए इन नये बहेतू दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष तौर पर पूँजीवाद-विरोध की भाव-भंगिमा अपनायी है और पूँजीवाद की ये लोग एक “नये किस्म की आलोचना” करते हैं, जो अलग से चर्चा का विषय है! आज के ज़माने में पूँजीवाद के खिलाफ़ आम जनता सड़कों पर उतर रही है। यह 1990 का दौर नहीं है जब दुनिया भर में पस्ती और निराशा छायी हुई थी। उस समय उत्तर-आधुनिकतावाद नंगे तौर पर ‘अन्त’ का सोहर गा सकता था। अब कोई भी विचारधारा जो ऐसा प्रयास करेगी, उसके हश्र का अनुमान

लगाया जा सकता है। इसलिए पूँजीवादी बौद्धिक तन्त्र ने अपनी सहज गति से नये किस्म के “दार्शनिकों” को पैदा किया है जिसमें से किसी को ‘मोस्ट एण्टरनेनिंग थिंकर’, ‘ग्रेटेस्ट लिविंग थिंकर’ आदि कहा जा रहा है तो किसी को ‘मोस्ट इनोवेटिव थिंकर ऑफ जेनरेशन’ और पता नहीं क्या-क्या कहा जा रहा है। लेकिन जैसा कि हमने देखा, इन नये “दार्शनिकों” का निशाना भी वही है जो कि 1990 के दशक और 2000 के दशक की शुरुआत में उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त आदि का था—मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु। आज इन बहेतु दार्शनिकों की दार्शनिक आवारागर्दी की कठोर आलोचना की ज़रूरत है और इनके विचारों के वास्तविक जन-विरोधी चरित्र को साफ करने की ज़रूरत है। यह समझने की ज़रूरत है कि शब्दों की सारी बाज़ीगरी के पीछे इनका इरादा और मकसद क्या है।



दुनिया को स्पष्ट शब्दों में स्पष्ट विकल्प की ज़रूरत है, जो कि दिया जा सकता है और सम्भव है, बशर्ते कि दुनिया भर में क्रान्तिकारी शक्तियाँ अन्दर और बाहर, दोनों ओर से सामने आ रही चुनौतियों का सही तरीके से मुकाबला करें। आज पूरी दुनिया में जो पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलन चल रहे हैं, वे अराजकतावाद, स्वतःस्फूर्ततावाद और तरह-तरह की विजातीय प्रवृत्तियों का शिकार हैं। इन आन्दोलनों में जनता

स्वतःस्फूर्त तरीके से पूँजीवाद-विरोधी घृणा और नफ़रत से उतरी है। लेकिन पूँजीवाद के खिलाफ़ यह घृणा रखना काफ़ी नहीं है; स्वतःस्फूर्तता काफ़ी नहीं है; एक पंक्ति में कहें तो **महज़ पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं है।** इन आन्दोलनों में अराजकतावाद और चॉम्स्कीपंथ का जो पुनरुत्थान होता दिख रहा है, वह लघुजीवी सिद्ध होगा; बल्कि कहना चाहिए कि इन स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों में बिखराव के साथ यह लघुजीवी सिद्ध होने भी लगा है। अराजकतावाद कोई विकल्प पेश नहीं कर सकता। हमें एक सुस्पष्ट, सुसंगत क्रान्तिकारी विकल्प पेश करना होगा। और उसके लिए दुनिया भर के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को अपने भीतर मौजूद कमज़ोरियों, कठमुल्लावाद, धुरी-विहीन चिन्तन और आत्मसमर्पणवाद को त्यागना होगा और मार्क्सवाद के उसूलों पर खड़े होकर, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विज्ञान पर खड़े होकर इन चुनौतियों का सामना करना होगा। बिना क्रान्तिकारी विचारधारा, क्रान्तिकारी पार्टी और क्रान्तिकारी आन्दोलन के बिना कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। आज अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरियों और कार्यक्रम-सम्बन्धी कठमुल्लावादी समझदारी से निजात पाकर विश्व भर में सर्वहारा क्रान्तिकारियों को एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी को खड़ा करने की तैयारी करनी होगी। आन्दोलन की संकट को दूर करने का यही रास्ता है।

भगतसिंह ने कहा...

“क्रान्ति से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट है। इस शताब्दी में इसका सिर्फ़ एक ही अर्थ हो सकता है—जनता के लिए जनता का राजनीतिक शक्ति हासिल करना। वास्तव में यही है ‘क्रान्ति’ बाकी सभी विद्रोह तो सिर्फ़ मालिकों के परिवर्तन द्वारा पूँजीवादी सड़ाँध को ही आगे बढ़ाते हैं। किसी भी हद तक लोगों से या उनके उद्देश्यों से जतायी हमदर्दी जनता से वास्तविकता नहीं छिपा सकती, लोग छल को पहचानते हैं। भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते। भारतीय श्रमिकों को—भारत में साम्राज्यवादियों और उनके मददगार हटाकर जो कि उसी आर्थिक व्यवस्था के पैरोकार हैं, जिसकी जड़ें शोषण पर आधारित हैं—आगे आना है। हम गोरी बुराई की जगह काली बुराई को लाकर कष्ट नहीं उठाना चाहते। बुराइयाँ, एक स्वार्थी समूह की तरह, एक-दूसरे का स्थान लेने को तैयार हैं।

साम्राज्यवादियों को गद्दी से उतारने के लिए भारत का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज़ इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती। सभी विचारों वाले राष्ट्रवादी एक उद्देश्य पर सहमत हैं कि साम्राज्यवादियों से आज़ादी हासिल हो। पर उन्हें यह समझने की भी ज़रूरत है कि उनके आन्दोलन की चालक शक्ति विद्रोही जनता है और उसकी जुझारू कार्रवाइयों से ही सफलता हासिल होगी।...

...हमें याद रखना चाहिए कि श्रमिक क्रान्ति के अतिरिक्त न किसी और क्रान्ति की इच्छा रखनी चाहिए और न ही वह सफल हो सकती है।”

(क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा)

(पेज 2 से जारी)

हैं जो केवल जनता को ही लगते हैं! पता नहीं जनता ही निशाने की जड़ में आ जाती है या कि सरकार का निशाना ही जनता होती है? खैर, सरकार तो सरकार है जी, आम जनता की तो क्या औकात, वह बड़ों-बड़ों को भी निशाना बना सकती है। पिछले दिनों जनता के आगे चलने वाले दिल्ली और मुम्बई में 'बड़े-बड़े' ही तो थे? किसी ने पूछा कि शेर बच्चे पैदा करता है; जंगल का राजा जो ठहरा! तो सरकार को भी जंगल का राजा ही समझो। अब ये अलग बात है कि आपकी हिफाजत करेगी या शिकार? असल में जंगलराज में सवाल तो पूछे भी नहीं जाने चाहियें।

खैर, विषयांतर के लिए क्षमा चाहता हूँ। बात जनता के अधिकारों से शुरू हुई थी, तो सरकार ने अधिकारों से जनता-जनार्दन की झोली भरने में कभी भी कंजूसी नहीं बरती लेकिन जनता-जनार्दन को फिर भी लग रहा है कि उसकी झोली खाली ही है। अब ये तो सरकार जाने या फिर जनता कि उसकी झोली ही फटी हुई है या फिर अधिकारों के नाम पर उसे कुछ और ही दिया जा रहा है?

राकेश बाबू 'राणा'
गांव व डाक., कलायत, जिला-कैथल
(हरियाणा)

आह्वान सराहनीय कार्य कर रहा है...

सम्पादक महोदय,

आह्वान पत्रिका इस समय की सबसे महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में से है। यही पत्रिका देश-विदेश में हो रहे बदलावों का जनपक्षधर विश्लेषण करती है। एफ.डी.आई. पर सही क्रान्तिकारी अवस्थिति, यूरोजोन संकट तथा आधुनिक भौतिकी पर आये लेख सराहनीय हैं। इन्जीनियरिंग कॉलेज में पढ़ने के कारण हमें इतना समय ही नहीं मिलता है कि हम इन विषयों पर सही समझ विकसित कर सकें। हालांकि टी.वी., इन्टरनेट व अखबारों से जमा होकर सूचनाओं का विशाल भण्डार तो होता है लेकिन वह हमें सच्चाई के करीब पहुँचाने नहीं देता है। आह्वान इस मायने में एक वैकल्पिक क्रान्तिकारी मीडिया का रोल अदा कर रही है तथा जनपक्षधर सच्चाई बयान कर रही है।

यूरोजोन पर आया लेख पढ़कर एक जरूरी बात समझ आयी जो मैं आह्वान के साथियों से साझा करना चाहूँगा। यूरोजोन की सामूहिक ताकत आज गम्भीर संकट का शिकार है जिसने विज्ञान को भी अपनी चपेट में ले लिया है। परन्तु यह पूँजीवाद ही था जिसने विज्ञान को विकसित किया था। औद्योगिक क्रान्ति ने विज्ञान को नये आयामों तक विकसित किया वैज्ञानिक विकास के रास्ते बढ़ते हुये मनुष्य ने ब्रह्माण्ड की संरचना तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म जगत को व्याख्यायित किया व इन्हें उद्योग से मिलाकर प्रौद्योगिकी को जन्म दिया। परन्तु जिस संकट में आज

यह व्यवस्था उलझी हुई है यह खुद विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का गला घोट रही है। यूरोजोन के संकट के कारण ही सर्न का महाप्रयोग आर्थिक संकट में है, कई देशों ने इस प्रयोग में आगे आर्थिक निवेश करने में असमर्थता जाहिर की है। इस आर्थिक संकट का सबसे बड़ा शिकार स्पेन का विज्ञान मंत्रालय बना है, यह अब अस्तित्व में ही नहीं है। संकट के कारण मची उथल पुथल में वहाँ प्रतिक्रियावादी सरकार की ताजपोशी हुई है जिसने खुद को उबारने के लिये विज्ञान मंत्रालय को ही खत्म कर दिया। अन्य देशों में भी विज्ञान के बजट में 70-80 फीसदी तक की कटौती हुई है। यही हाल स्वास्थ्य बजट का भी है परन्तु इन सभी देशों ने सुरक्षा बजट को छुआ भी नहीं है या फिर कुछ कटौती मजबूर होकर की है। कारण साफ है मौजूदा व्यवस्था न तो विज्ञान की मित्र है और न मानव केन्द्रित, यह मुनाफा केन्द्रित व्यवस्था है। अन्त में मैं भी शिशिर के लेख के 'निष्कर्ष के स्थान पर' में लिखी बात से सहमत हूँ कि "मानवता के सामने आज दो ही विकल्प हैं-समाजवाद या विनाश! और मानवता की रचनात्मकता, विवेक और जीवत पर हमें पूरा भरोसा है। हम निश्चय ही विनाश के विकल्प को नहीं चुनेंगे।"

प्रियांक, एमआईईटी, मेरठ

फिल्म समीक्षा का स्तम्भ फिर से शुरू करें

आह्वान प्रगतिशील छात्रों और युवाओं के लिए एक बेहद शानदार पत्रिका है। सभी लेख विचारोत्तेजक हैं। पिछले अंक में छपे यूरोजोन संकट के विषय में लेख विशेष रूप से सराहनीय था और युवाओं को सही स्थिति से अवगत कराता है।

“आधुनिक भौतिकी और भौतिकवाद के लिए संकट” लेख सरल व संक्षेप में भौतिकवादी विश्वदृष्टिकोण से अवगत कराता है और उसे समझाता है।

आह्वान के पिछले चार-पांच अंक पढ़ने के बाद पुराने अंकों को भी मित्रों द्वारा उपलब्ध कराकर पढ़ा। मेरा सुझाव है कि आह्वान में फिल्म समीक्षा संबंधी लेख भी सम्मिलित किये जाने चाहिए चूँकि आज की फिल्मों को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं और उन्हें पथभ्रष्ट भी करती हैं इसलिए फिल्मों की आलोचना सम्बन्धी सामग्री भी छापी जानी चाहिए। संपादन कार्य सराहनीय है।

विराट
आई.ई.सी. कॉलेज, ग्रेटर नोएडा

“अगर अकेले रहने पर आपको अकेलापन महसूस होता है, तो इसका मतलब है कि आप बुरी संगत में हैं।”

-ज्याँ पॉल सार्त्र

बर्टोल्ट ब्रेष्ट के 114वें जन्मदिवस (10 फरवरी) के अवसर पर

कौयनर महाशय की कहानियाँ

● बर्टोल्ट ब्रेष्ट

ताकत के खिलाफ कार्यवाही

विचारक कौयनर महाशय ज्यों ही एक बड़े हाल में काफी तादाद में इकट्ठा हुए लोगों के सामने ताकत के खिलाफ बोल रहे थे, उन्होंने देखा कि लोग पीछे हट कर रास्ता पकड़ने लगे हैं। उन्होंने चारों ओर नजर दौड़ाई और पाया कि उनके पीछे ताकत खड़ी है।

“क्या बोल रहे थे तुम?”—ताकत ने उनसे पूछा।

“मैं ताकत के पक्ष में बोल रहा था”—कौयनर महाशय ने जवाब दिया।

कौयनर महाशय जब वापस जा रहे थे, तब उनके चेलों ने उनकी रीढ़ की हड्डी के बाबत पूछा। कौयनर महाशय ने जवाब दिया—“मेरे पास तुड़वाने के लिए रीढ़ की हड्डी नहीं है। खासकर जब कि मुझे भी ताकत से ज्यादा अर्से तक जिंदा रहना है।” और फिर कौयनर महाशय ने यह कहानी सुनायी—

एगे महाशय के घर में, जिन्होंने सिर्फ एक शब्द ‘नहीं’ बोलना ही सीखा था, अंधेरगर्दी के जमाने में एक नुमायंदा आया। उसने एक फरमान दिखाया जिस पर उन तमाम लोगों के दस्तखत थे, जो कि शहर के हाकिम थे। फरमान में लिखा था कि इस आदमी के पैर जिस किसी घर में दाखिल होंगे, वह इसके कब्जे में होगा और वहां का हर किस्म का भोजन भी। अपनी इच्छा मुताबिक वह हर उस आदमी को अपनी सेवा के लिए चुन सकता है, जिस पर उसकी नजर पड़े।

नुमायंदा एक कुर्सी पर बैठा, भोजन छका, कुल्ला किया, नीचे पसरा और चेहरा दीवार पर सटा कर नींद की मौज में आने से पहले सवाल किया—‘क्या तुम मेरी

खातिरदारी करोगे?’

एगे महाशय ने उसे एक लिहाफ ओढ़ाया, मक्खियां उड़ाई, उसकी नींद की चौकसी की और उस दिन की तरह लगातार यह क्रम सात साल तक दोहराया। लेकिन इस दौरान उन्होंने जो कुछ भी उसके लिये किया, यह एहतियात बरता कि एक भी शब्द मुंह से न निकले। जब सात साल गुजर चुके और नुमायंदा बेहद खाते-पीते-सोते और हुकम देते-देते मुटा गया तो एक दिन वह मर गया। एगे महाशय ने तब उसकी लाश चीथड़ों में लपेटी और घसीट कर घर से बाहर फेंक दी। वह खाट जिस पर वह सोता था, साफ की, दीवारों पर सफेदी पोती और एक गहरी सांस छोड़ते हुए जवाब दिया—‘नहीं’।



‘क’ महाशय का मनपसन्द जानवर

महाशय ‘क’ से जब पूछा गया कि उनका मनपसन्द जानवर कौन है, तो उन्होंने हाथी का नाम लिया और उसकी उपयोगिता सिद्ध करते हुए कहा—हाथी में ताकत और चतुराई शामिल है। ऐसी दयनीय किस्म की चतुराई नहीं जो किसी अत्याचार से बचने या भोजन छीनने के लिए ही काफी हो, बल्कि ऐसी चतुराई जिसके जरिये वह बड़ा से बड़ा काम करने में समर्थ है। जहां कहीं यह जानवर पाया जाता है, वहां अपने पैरों की भारी छाप छोड़ जाता है। इसके अलावा यह भले स्वभाव का और विनोदी भी है। जितना अच्छा दोस्त है, उतना ही अच्छा दुश्मन भी। भारी भरकम शरीर का होते हुए भी खासा तेज है। उसकी सूंड इतने भारी शरीर को छोटी से छोटी चीज खाने के लिए पहुंचा देती है—बादाम तक भी। उसके कानों की यह खूबी है कि केवल वही सुनते हैं, जो उसे भाता है। लम्बी उम्र जीता है। मिलनसार है और महज

हाथियों तक ही नहीं। सभी उसे प्यार करते हैं, लेकिन उतना ही डरते भी हैं। अचरज की बात यह है कि उसकी पूजा भी होती है। इतनी मोटी चमड़ी का है कि उसमें चाकू भी टूट जाये, लेकिन उसकी भावनाएं बहुत कोमल हैं। वह उदास हो सकता है और गुस्सा भी। मस्ती से नाचता है और मरना बीहड़ों में पसन्द करता है। बच्चों तथा दूसरे छोटे जानवरों को वह खूब प्यार करता है। दिखने में भूरा है, लेकिन अपने मांसल शरीर से दूसरों का ध्यान बरबस खींच लेता है। खाये जाने के काबिल यह नहीं है। काम अच्छा कर सकता है।

मस्ती से पीता है और मस्त रहता है। कला के लिए भी थोड़ा बहुत करता है—हाथी दांत यही देता है।

मतलबपरस्त

‘क’ महाशय ने नीचे लिखे सवालों को पेश किया—

रोज सुबह मेरा पड़ोसी ग्रामोफोन पर संगीत सुनता है। उसे संगीत की जरूरत क्यों पड़ी? इसलिए कि वह कसरत करता है, ऐसा मैंने सुना। वह कसरत क्यों करता है? मैंने सुना है कि उसे ताकत की जरूरत है। ताकत की जरूरत उसे क्यों पड़ी? इसलिए कि शहर में उसे अपने दुश्मनों का सफाया करना है। अपने दुश्मनों को वह क्यों खत्म करना चाहता है? क्योंकि वह भोजन चाहता है, मैंने सुना।

इतना सुनने के बाद कि उनका पड़ोसी कसरत

के लिए संगीत सुनता है, ताकतवर होने के लिए कसरत करता है, ताकतवर अपने दुश्मनों को खत्म करने के लिए बनना चाहता है और दुश्मनों को इसलिए खत्म करता है कि वह खा सके। ‘क’ महाशय ने फिर सवाल उठाया—‘क्यों खाता है वह?’

बातचीत

‘अब हम आपस में कतई बातचीत नहीं कर सकते,’ महाशय ‘क’ ने एक आदमी से कहा।

‘क्यों?’ उसने चौंकते हुए पूछा।

‘मैं अपनी तर्कसंगत बात अब तुम्हारे आगे नहीं रख सकता।’ महाशय ‘क’ ने लाचारी जाहिर की।

‘लेकिन इस बात से मुझ पर कोई फर्क नहीं पड़ता।’ दूसरे ने तसल्ली जाहिर की।

‘मुझे पता है,’ महाशय ‘क’ ने खीझते हुए कहा—‘लेकिन मुझ पर इसका असर पड़ता है।’

मुलाकात

एक आदमी जिसने ‘क’ महाशय को काफी लम्बे अरसे से नहीं देखा था, मिलने पर उनसे कहा—‘आप तो बिल्कुल भी नहीं बदले।’

‘अच्छा’। महाशय ‘क’ ने कहा और पीले पड़ गये।

आह्वान’ के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

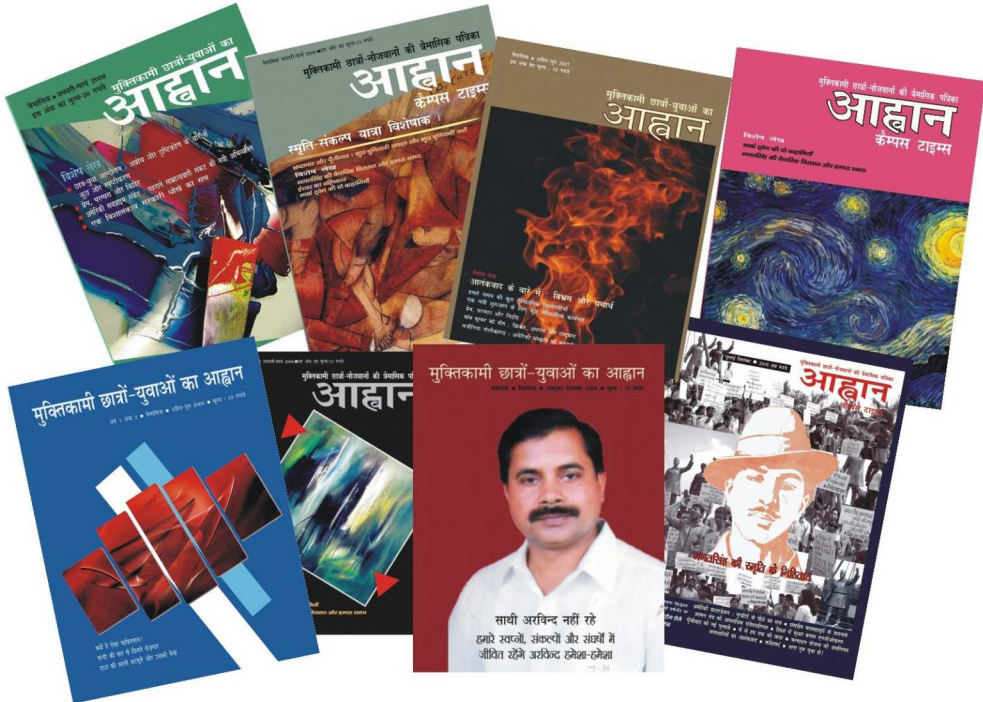
“आह्वान” सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी किस्म का समझौता किये “आह्वान” सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। आपको मालूम हो कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में “आह्वान” अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर सहयोग कर सकते हैं। 2. अपने मित्रों को “आह्वान” की सदस्यता दिलवायें। 3. “आह्वान” के मद में आर्थिक सहयोग भेजें। और “आह्वान” के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र प्रेषित कराने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि निम्नलिखित खाता नं. में भी प्रेषित कर सकते हैं। यह जरूरी है कि आर्थिक सहयोग भेजते समय हमें सूचित अवश्य कर दें।

प्रति – मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ बड़ौदा, खाता नं. – 21360100010629

साभिवादन,
सम्पादक



मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

आह्वान के नियमित पाठकों के लिए एक विशेष उपहार : आह्वान के सभी उपलब्ध अंकों का सेट मात्र रु. 200 में! (डाक व्यय अतिरिक्त)

दिलचस्पी रखने वाले सभी पाठक लिखें :

सम्पादकीय कार्यालय :

बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094

फोन : 9211662298

खत्म करो पूँजी का राज लड़ो, बनाओ लोक-स्वराज!



हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से खारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से खारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के काबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलंद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताकत उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है – ‘सारी सत्ता मेहनतकश को!’

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,

स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928

ईमेल : disha.du@gmail.com